# रूसकी चिट्ठी

[ भ्रमण-कहानी ]

## श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक
धन्यकुमार जैन

"विशाल-भारत" पुस्तकालय
१२०।२, अपर सर्कूलर रोड, कलकत्ता



श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

# रूसकी चिट्ठी

१

मास्को

आखिर रूसमें आ ही पहुचा। जो देखता हू, आश्चर्य होता है। अन्य किसी देशसे इसकी तुलना नहीं हो सकती। बिलकुल जडसे प्रभेद है। आदिसे अन्त तक सभी आदमियोको इन लोगोने समान रूपसे जगा दिया है।

हमेशासे देखा गया है कि मनुष्यकी सभ्यतामे अप्रसिद्ध लोगोका एक ऐसा दल होता है, जिनकी सख्या तो अधिक होती है, फिर भी वे ही वाहन होते हैं, उन्हें मनुष्य बननेका अवकाश नहीं, देशकी सम्पत्तिके उच्छिष्टसे वे प्रतिपालित होते हैं। वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर अन्य सबोंकी परिचर्या या गुलामी करते हैं, सबसे अधिक उन्हींका परिश्रम होता है, सबसे अधिक उन्हींका

असम्मान होता है। बात-बातपर वे भूखों मरते हैं, ऊपरवालोंकी लातें खाते हैं—जीवन-यात्राके लिए जितनी भी सुविधाएं और मौके हैं, उन सबसे वे वंचित रहते हैं। वे सभ्यताकी दीवट हैं, सिरपर दिआ लिये खड़े रहते हैं,—ऊपरवालोंको सबको उजीता मिलता है और उन बेचारोंके ऊपरसे तेल ढलकता रहता है।

मैंने इनके बारेमें बहुत दिनोंसे बहुत सोचा है, मालूम हुआ कि इसका कोई उपाय नहीं। जब एक समूह नीचे न रहेगा, तो दूसरा समूह ऊपर रह ही नहीं सकता, और ऊपर रहनेकी आवश्यकता है ही। ऊपर न रहा जाय, तो बिलकुल नजदीककी सीमाके बाहरका कुछ दिखाई नहीं देता,—मनुष्यत्व सिर्फ जीविका-निर्वाह करनेके लिए ही नहीं है। एकान्त जीविकाको अतिक्रम करके आगे बढ़े, तभी उसकी सभ्यता है। सभ्यताकी उत्कृष्ट फसल तो अवकाशके खेतमें पैदा होती है। मनुष्यकी सभ्यतामें एक जगह अवकाशकी रक्षा करनेकी जरूरत तो है ही। इसीलिए सोचा करता था कि जो मनुष्य सिर्फ अवस्थाके कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मनकी गतिके कारण नीचे रहकर काम करनेको मजबूर है और उसी कामके योग्य है, जहाँ तक सम्भव हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधाके लिए उद्योग करना चाहिए।

मुश्किल तो यह है कि दयाके वश कोई स्थायी चीज नहीं बनाई जा सकती, बाहरसे उपकार करना चाहें तो

पद-पदपर उसमें विकार उत्पन्न होते रहते हैं। समान वन सकें, तभी सत्य सहायता हो सकती है। कुछ भी हो, मैं अच्छी तरह कुछ सोच नहीं सका हूँ—फिर भी इस बातको मान लेनेमें कि अधिकांश मनुष्योंको नीचे रखकर, उन्हें अमानुष बनाये रखकर ही सभ्यता ऊँची रह सकती है, हमारा मन धिक्कारोंसे भर जाता है।

जरा सोचो तो सही, भूखे भारतके अन्नसे इंग्लैंड परिपुष्ट हुआ है। इंग्लैंडके अधिकांश लोगोंके मनका भाव यह है कि इंग्लैंडका चिरकाल पोषण करनेमें ही भारतकी सार्थकता है, इंग्लैंड बड़ा होकर मानव-समाजमें बड़ा काम कर रहा है, और इस उद्देशकी सिद्धिके लिए हमेशाके लिए एक जातिको दासतामें बाँध रखनेमें कोई बुराई नहीं, यह जाति अगर कम खाती है, कम पहनती है, तो उससे क्या बनता-बिगड़ता है, फिर भी कृपा करके उनकी अवस्थाकी कुछ उन्नति करना चाहिए, यह बात उनके मनमें बैठ गई है। परन्तु एक सौ वर्ष हो चुके, न तो शिक्षा ही मिली, न स्वास्थ्य ही मिला और न सम्पद ही देखी।

प्रत्येक समाज अपने अंदर इसी एक ही बातका अनुभव करता है। जिस मनुष्यका मनुष्य सम्मान नहीं कर सकता, उस मनुष्यका मनुष्य उपकार करनेमें असमर्थ है। और कहीं नहीं तो, जब अपने स्वार्थपर आकर ठेस लगती है, तभी मार-काट शुरू हो जाती है। रूसमें एकदम जड़से लेकर इस

समस्याको हल करनेकी कोशिश की जा रही है। उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस बातपर विचार करनेका समय अभी नहीं आया, मगर फिलहाल जो कुछ आँखोंके सामनेसे गुजर रहा है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। हमारी सम्पूर्ण समस्याओंका सबसे बडा रास्ता है शिक्षा। अभी तक समाजके अधिकांश लोग शिक्षाकी पूर्ण सुविधासे वंचित हैं—और भारतवर्ष तो प्राय पूर्णत· ही वंचित है।

यहाँ—रूसमे—वही शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यमके साथ समाजमें सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है कि जिसे देखकर दग रह जाना पडता है। शिक्षाकी तोल सिर्फ सख्यासे नहीं हो सकती, वह तो अपनी सम्पूर्णतासे—अपनी प्रबलतासे ही तौली जा सकती है। कोई भी आदमी नि सहाय और बेकार न रहने पावे, इसके लिए कैसा विराट आयोजन और कैसा विशाल उद्यम हो रहा है। केवल सफेद रूसके लिए ही नहीं—मध्य-एशियाकी अर्ध-सभ्य जातियोंमें भी ये बाढकी तरह शिक्षा विस्तार करते हुए आगे बढ रहे हैं,—जिससे साइन्सकी अन्तिम फसल तक उन्हें मिले, इसके लिए इतने प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका अन्त नहीं। यहाँ थियेटरके अभिनयोंमें बडी जबरदस्त भीड होती है, मगर देखनेवाले कौन है—किसान और मजूर। कहीं भी इनका अपमान नहीं। इसी अरसेमें इनकी दो-एक सस्थाएँ भी देखीं, और सर्वत्र ही मैंने इनके हृदयका जागरण और आत्म-सम्मानका आनन्द पाया। हमारे देशके सर्वसाधारणकी तो

घात ही छोड दो—इंग्लैंडके मजूर-समाजके साथ तुलना करनेसे जमीन-असमानका फर्क नजर आता है। हम श्रीनिकेतनमें जो काम करना चाहते हैं, ये लोग देश-भरमें अच्छी तरह उस कामको पूरा कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता अगर यहाँ आकर कुछ सीख जा सकते, तो बडा-भारी उपकार होता। रोजमर्रा मैं हिन्दुस्तानके साथ यहाँकी तुलना करता हूं और सोचता हूं कि क्या हुआ और क्या हो सकता था। मेरे अमेरिकन साथी डाक्टर हेरी टिम्बर्स यहाँकी स्वास्थ्य-व्यवस्थाकी चर्चा करते हैं, उनकी कार्य-पद्धति देखनेसे आँखें खुल जाती हैं,—और कहाँ पडा है रोग-सन्तप्त, भूखा, अभागा, निरुपाय भारतवर्ष। कुछ पहले भारतकी अवस्थाके साथ यहाँकी साधारण जनताकी दशाकी बिलकुल समानता थी—इस छोटसे समयमे बडी तेजीके साथ उसमें कैसा परिवर्तन हुआ है। और हम अभी तक जडताके कीचडमें ही गले तक डूबे पडे हैं।

इसमें कोई गलती ही न हो, यह बात मैं नहीं कहता—गहरी गलती है। और वह किसी दिन इन्हें बडे सङ्कटमें डाल देगी। सक्षेपमें वह गलती यह है कि शिक्षा-पद्धतिको इन्होंने एक साँचा सा बना डाला है, पर साँचेमें ढला मनुष्यत्व कभी स्थायी नहीं हो सकता—सजीव हृदय-तत्त्वके साथ यदि विद्या-तत्त्वका मेल न हो, तो या-तो किसी दिन साँचा ही टूट जायगा, या मनुष्यका हृदय ही मरकर मुर्दा बन जायगा या मशीनका पुर्जा बना रहेगा।

यहाँके विद्यार्थियोंमे विभाग बनाकर हर विभागको पृथक्-पृथक् काम सौंप जाते हैं, छात्रावासकी व्यवस्था वे खुद ही करते हैं—

किसी विभागपर स्वास्थ्य-सबधी भार है, तो किसीपर भोजनादिका। जिम्मेदारी सब उन्हींके हाथोमे है, सिर्फ एक परिदर्शक रहता है। शान्ति-निकेतनमे मैंने शुरूसे ही इस नियमको चलानेकी कोशिश की है, पर वहाँ सिर्फ नियमावली ही बनकर रह गई, कुछ काम नहीं हुआ। उसका मुख्य कारण यह है कि हमने स्वभावत. ही पाठ-विभागका लक्ष्य बनाया परीक्षा पास करना, और-सबको उपलक्ष्य मात्र समझा, यानी हो तो अच्छा, न हो तो कोई हर्ज नहीं—हमारा आलसी मन जबरदस्त जिम्मेदारोके बाहर काम बढाना नहीं चाहता। इसके सिवा बचपनसे ही हम किताबें रटनेके आदी हो गये हैं। नियमावली बनानेसे कोई लाभ नहीं, नियामकोके लिए जो आन्तरिक विषय नहीं, वह उपेक्षित बिना हुए रह ही नहीं सकता। गाँवोकी सेवा और शिक्षा-पद्धतिके विषयमे मैंने जो-जो बातें अब तक सोची हैं, यहाँ उसके अलावा और कुछ नहीं है, है केवल शक्ति, है केवल उद्यम और कार्यकर्ताओंकी व्यवस्था-बुद्धि। मुझे तो ऐसा मालूम पडता है कि बहुत-कुछ शारीरिक बलपर ही निर्भर है—मलेरियासे जर्जरित अपरिपुष्ट शरीरको लेकर पूरी तेजीसे काम करना असम्भव है—यहाँ इस जाडेके देशमे लोगोंकी हड्डी मजबूत होनेसे ही कार्य इतनी आसानीसे आगे बढ रहा है—सिर गिनकर हमारे देशके कार्यकर्ताओंकी सख्याका निर्णय करना ठीक नहीं—उनमें से प्रत्येकको एक-एक आदमी समझना भूल है।

२० सितम्बर, १९३०

२

*मास्को*

स्थान रूस। दृश्य, मास्कोकी उपनगरीका एक प्रासादभवन। जंगलेमें से देख रहा हू—दिगन्त तक फैली हुई अरण्यभूमि, सब्ज रंगकी लहरें उठ रही हैं, कहीं स्याह सब्ज, कहीं फीका बैंगनी-मिलमा सब्ज, कहीं पीलिया सब्ज—हिलोरें-सी नजर आ रही हैं। वनकी सीमापर बहुत दूर गाँवकी झोपडियाँ चमक रही हैं। दिनके करीब दस बजे हैं, आकाशमें बादलपर बादल धीमी चालसे चले जा रहे हैं, विना वर्षाका समारोह है, हवासे सीधे खडे पॉपलर-वृक्षोंकी चोटियाँ नशेमे झूम-सी रही हैं।

मास्कोमें कई दिन तक जिस होटलमे था, उसका नाम है ग्रैन्ड-होटल। बडी-भारी इमारत है, पर हालत अत्यन्त दरिद्र, मानो धनाढ्यका लडका देवालिया हो गया हो। पुराने जमानेका असबाब है—कुछ बिक चुका है, कुछ फट-टूट गया है, जोडने और थेगरा लगाने-लायक सामर्थ्य नहीं, मैले-कुचैले कपडे हैं, धोबीसे सम्बन्ध नहीं। सारे शहर-भरकी यही हालत है—

अत्यन्त अपरिछिन्नताके भीतरसे भी नवाबी जमानेका चेहरा दिखाई दे रहा है—जैसे फटे कुडतेमें सोनेके बटन लगे हों, जैसे ढाकेकी धोतीमें रफ़ू दूरसे चमक रहा हो। आहार-व्यवहारमें ऐसी सर्वव्यापी निर्धनता यूरोपमें और कहीं भी देखनेमें नहीं आती। इसका मुख्य कारण यह है कि और-सब जगह धनी दरिद्रका भेद होनेसे धनका पुंजीभूत रूप सबसे ज्यादा बड़ा होकर निगाहके सामने पडता है—वहाँ दरिद्र रहता है यवनिकाके पीछे नेपथ्यमें, जहाँका सब-कुछ बेसिलसिलेका, बिखरा हुआ, गन्दा, अस्वास्थ्यकर है, जहाँ दुर्दशा और बेकारीके घोर अन्धकारके सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता। परन्तु बाहरसे आये हुए हम जहाँ आकर टिकने हे, वहाँके जंगलेसे जो-कुछ देखते हैं, हमें सब सुभद्र, सुशोभन और परिपुष्ट ही दिखाई देता है। यह समृद्धि यदि समान रूपसे बाँट दी जाती, तो उसीसे पता लग जाता कि देशमें धन ऐसा कुछ ज्यादा नहीं है, जिससे सबको खाने-पहननेको काफी तौरसे जुटता। यहाँ भेद न होनेसे ही धनका चेहरा बिगड गया है, और दीनतामें भी कुरूपता नहीं है, है अकिंचनता। देश-भरमें फैला हुआ ऐसा अधन और-कहीं देखा नहीं, इसीसे सबसे पहले हमारी दृष्टि उसीपर पडती है। अन्य देशोंमे जिन्हें हम सर्वसाधारण समझते हैं, यहाँ केवल वे ही रहते हैं।

मास्कोकी सडकोंपर सब तरहके आदमी चल-फिर रहे हैं। किसीमे शान-शौकत नहीं, कोई फीट-फाट नहीं, देखनेसे मालूम

होता है कि मानो अवकाश भोगी समाज यहाँसे सदाके लिए विदा हो गया है। सभी-कोई अपने हाथ-पैरोंसे काम-धधा करके जिन्दगी बिताते है, बाबूगीरीको पालिश कहीं है ही नहीं। डा० पेटोव नामक एक सज्जनके घर आनेका काम पडा, वे यहाँके एक प्रतिष्ठित आदमी है, ऊँचे ओहदेदार। जिस मकानमे उनका दफ्तर है, वह पहले एक रईसका मकान था, पर घरमे असवाब बहुत ही कम और सजावटकी तो बू तक नहीं—बिना कार्पेटके फर्शपर एक कोनेमे मामूलीसी एक टेबिल है, सक्षेपमे पितृवियोगमे नाई-धोबी-वर्जित अशौच-दशाका-सा रूखा-रूखा भाव है—जैसे बाहरवालोंके सामने सामाजिकताकी रक्षा करनेकी उनको कोई गरज ही नहीं। मेरे यहाँ जो खाने-पीनेकी व्यवस्था थी, वह ग्रैन्ड-होटल नामधारी पान्थावासके लिए बहुत ही असगत थी। परन्तु इसके लिए कोई सकोच नहीं—क्योंकि सभीकी एक-सी दशा है।

मुझे अपने बचपनकी बात याद आती है। तबकी जीवन-यात्रा और उसका आयोजन अबकी तुलनामे कितना तुच्छ था, परन्तु उसके लिए हममेसे किसीके मनमे जरा भी सकोच नहीं था, कारण, तबके ससार-यात्राके आदर्शमे बहुत ऊच-नीचका भाव नहीं था—सभीके घर एक मामूली-सा चाल-चलन था—फर्क था सिर्फ पाण्डित्यका, यानी गाने-बजाने और लिखने-पढ़ने आदिका। इसके सिवा लौकिक रीतिमे पार्थक्य था, अर्थात् भाषा, भाव-भगी और आचार-विचारगत विशेषत्व था। परन्तु तब

जैसा हमारा आचार-विचार था और उपकरण आदि जिस ढगके थे, उन्हे देखकर तो आजकलके मध्यम श्रेणीके लोग भी अवज्ञा कर सकते थे।

अर्थगत वैषम्यकी बड़ाई हमारे यहाँ पाश्चात्य महादेशसे आई है। किसी समय हमारे देशमे जब नई फैशनके आफिस-विहारी और रोजगारियोंके घरमें नये रुपयोकी आमदनी हुई, तब उन लोगोंने विलायती बाबूगीरीका चलन शुरू कर दिया। तभीसे असबाबकी तौलसे भद्रताकी तौल शुरू हुई है, इसीलिए हमारे देशमें भी आजकल कुल-शील, रीति-नीति, बुद्धि-विद्या—इन सबके ऊपर आकर दिखाई देती है धनकी विशिष्टता। यह विशिष्टताका गौरव ही मनुष्यके लिए सबसे बढकर अगौरव है। यही नीचता कहीं हमारी नसमे भी न घुस जाय, इसके लिए हमे अत्यन्त सावधान हो जाना चाहिए।

यहाँ आकर जो मुझे सबसे अच्छा लगा है, वह है इस धन-गरिमाकी नीचताका सर्वथा तिरोभाव। सिर्फ इसी वजहसे इस देशमे जनसाधारणका आत्म-सम्मान क्षणमे जाग्रत हो उठा है। किसान-मजदूर सभी कोई आज असम्मानका बोझ पटककर सिर उठाकर खड़े हो सके हैं। इसे देखकर मैं जितना विस्मित हुआ हू, उतना ही आनन्दित भी। मनुष्य मनुष्यमें पारस्परिक व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक सहज-स्वाभाविक हो गया है। बहुतसी बातें कहनी हैं, लिखनेकी कोशिश करूँगा—परन्तु अभी तो मेरे लिए विश्राम करनेकी जरूरत है, इसलिए जगलेके सामने लम्बी

आरामकुर्सीपर पैर पसारकर बैठूंगा, पैरोंपर कम्बल डाल दूंगा—फिर अगर आंखें मिच ही जावें, तो जबरन उन्हें रोक रखनेकी कोशिश न करूंगा।

१६ सितम्बर, १६३०

३

*मास्को*

बहुत दिन हुए तुम दोनोंको पत्र लिखे। तुम दोनोंकी सम्मिलित चुप्पीसे अनुमान होता है कि वे युगलपत्र मुक्तिको प्राप्त हो चुके हैं। ऐसी विनष्टि भारतीय डाकखानोंमें आजकल हुआ ही करता है, इसीलिए शका होती है। इसी वजहसे आजकल चिट्ठी लिखनेको जी नहीं चाहता। कमसे कम तुम लोगोंकी तरफसे उत्तर न मिलनेपर मैं चुप रह जाता हूं। निःशब्द रात्रिके प्रहर लम्बे मालूम होने लगते हैं—उसी तरह 'निःचिट्ठी'का समय भी कल्पनामें बहुत लम्बा हो जाता है। इसीसे रह-रहकर ऐसा मालूम होने लगता है, मानो लोकान्तर-प्राप्ति हुई हो, मानो समयकी गति बदल गई है—घडी बजती है लम्बे तालोंपर। द्रौपदीके चीर-हरणकी तरह मेरा देश जानेका समय जितना ही खिंचता जाता है, उतना ही अनन्त होकर वह बढता ही चला जाता है। जिस दिन लौटूंगा, उस दिन तो निश्चित ही लौटूंगा—

आजका दिन जैसे बिलकुल निकट है, वह दिन भी उसी तरह निकट आयेगा, यही सोचकर सान्त्वना पानेकी कोशिश कर रहा हू।

खैर, कोई बात नहीं, फिलहाल रूसमे आया हू—न आता तो इस जन्मकी तीर्थयात्रा बिलकुल अधूरी ही रह जाती। यहा इन लोगोने जैसा काड किया है, उसपर भले-बुरेका विचार करनेसे पहले ही मुँहसे निकल पडता है—कैसा असम्भव साहस है। 'सनातन' नामका जो पदार्थ है, वह मनुष्यकी नस-नसमें मन और प्राणोके साथ हजार-हजार बनकर जकड गया है—उसकी कितनी दिशाओंमें कितने महल हैं, कितने दरवाजोपर कितने पहरे लग रहे हैं, कितने युगोसे कितना टैक्स वसूल करके उसका खजाना पहाड बन गया है—इन लोगोने उसे एकदम जडसे उखाड फेंका है, इनके मनमे भय, चिन्ता, सशय कुछ भी नहीं। सनातनकी गद्दी झाड फेंकी है, नयेके लिए एकदम नया आसन बिछा दिया है। पश्चिम महादेश विज्ञानके बूतेपर दु साध्यको साध्य कर दिखाता है, देखकर मन तारीफ कर उठता है, मगर यहाँ जो विशाल कार्य चल रहा है, उसे देखकर मैं सबसे ज्यादा विस्मित हुआ हू। अगर सिर्फ एक भीषण परिवर्तन या नष्ट-भ्रष्टका मामला होता, तो उससे कुछ आश्चर्य न होता, क्योकि नेस्तनाबूद करनेकी शक्ति इनमे काफीसे ज्यादा है, मगर यहां देखता हू कि ये लोग बहुदूरव्यापी एक खेत बनाकर एक नई ही दुनिया बनानेमे कमर कसकर जुट पडे हैं। देर सही नहीं जाती, क्योंकि दुनिया-भरमे इन्हे प्रतिकूलता-ही-प्रतिकूलता

दिखाई दे रही है, सभी इनके विरोधी हैं—जितनी जल्दी हो सके, इन्हें अपने पैरों खडा होना ही होगा—हाथो-हाथ प्रमाणित कर देना है कि ये जो कुछ चाहते हैं, वह इनकी भूल नहीं है, 'हजार वर्ष' के विरुद्ध 'दस-पन्द्रह वर्ष' को लडकर जीतना ही है—प्रतिज्ञा जो की है। अन्य देशोको तुलनामे इनका आर्थिक बल वहुत ही थोडा है, हाँ, प्रतिज्ञाका जोर दुर्द्धर्ष है।

यह जो क्रान्ति हुई है, उसे रूसमे ही होना था—इसके लिए वह वाट जोह रही थी। तैयारियाँ वहुत दिनोंसे हो रही थीं। प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सभी तरहके लोगोंने कितने ही दिनोसे प्राण दिये हैं, असह्य दु ख सहे हैं। ससारमे विप्लवके कारण वहुत दूर तक व्यापक रहते है, परन्तु किसी-न-किसी जगह वे घनीभूत हो उठते हैं, समस्त शरीरका रक्त दूपित होनेपर भी कहीं एक कमजोर स्थानपर फोडा होकर लाल हो उठता ही है। जिनके पास धन है, जिनके हाथमे शक्ति है, उनके हाथोसे निर्धन और अशक्तोंने इसी रूसमे ही असह्य अत्याचार सहे हैं। दोनों पक्षोंका वही अत्यधिक असाम्य अन्तमे प्रलयके बीचमेंसे गुजरकर इस रूसमें ही प्रतिकार करनेपर उतारू है।

एक दिन फरासीसी-विद्रोह हुआ था इसी असाम्यकी ताडनासे। उस दिन वहाँके पीडित समझ गये थे कि इस असाम्यका अपमान और दु ख विश्वव्यापी है, इसीलिए उस दिनके विप्लवमे साम्य, भ्रातृत्व और स्वातन्त्र्यकी वाणी स्वदेशकी लकीर पार करके वाहर भी ध्वनित हो उठी थी, पर वह टिकी नहीं। इनके यहाँकी

क्रान्तिकी वाणी भी विश्ववाणी है। आज ससारमें कम-से-कम इस देशके लोग तो ऐसे हैं, जो स्वजातिके स्वार्थपर ही समस्त मानव-समाजका स्वार्थ सोच रहे हैं। यह वाणी स्थायी-रूपसे टिक सकेगी या नहीं, कोई कह नहीं सकता, परन्तु स्वजातिकी समस्या समस्त मानव-जातिकी समस्याके अन्तर्गत है, यह बात वर्तमान युगके भीतरकी बात है, इसे मानना ही होगा।

इस युगमें विश्व-इतिहासकी रगभूमिका पर्दा उठ गया है। अब तक मानो भीतर-ही-भीतर रिहर्सल हो रहा था—थोडा-थोडा करके अलग-अलग कमरोंमें। प्रत्येक देशके चारों तरफ चहारदीवारी थी। बाहरसे आने-जानेका रास्ता बिलकुल था ही नहीं, सो बात नहीं, परन्तु विभागोंमें बँटे हुए मानव-संसारका जो चेहरा देखा है, आज उसे नहीं देखता। उस दिन दिखाई दे रहा था एक-एक पेड, आज देख रहा हूँ अरण्य। मानव-समाजमें यदि भार-सामजस्यका अभाव हो गया हो, तो वह आज दिखाई दे रहा है ससारके इस पारसे लेकर उस पार तक। इस तरह विशालरूपमें दिखाई देना कोई कम बात नहीं है।

टोकियोमें जब कोरियाके एक युवकसे पूछा था कि तुम्हें कष्ट किस बातका है? तो उसने कहा था—"हमारे कँधोपर महाजनोका राज्य सवार है, हम उनके मुनाफेके वाहन हैं।" मैंने पूछा—"किसी भी कारणसे हो, जब कि तुम लोग कमजोर हो, तो यह भार तुम अपने बूतेपर कैसे झाड फेंक सकते हो?" उसने कहा—"निरुपाय पराधीन जातियाँ तो आज दुनिया-भरमें

फैली हुई हैं, दुःख उन सबको एक साथ मिला देगा—जो धनी हैं, जो शक्तिसम्पन्न हैं, वे अपने-अपने लोहेके सन्दूकों और सिंहासनोंके चारों तरफ अलग खड़े रहेंगे, वे कभी मिल नहीं सकेंगे। कोरियाको बल है अपने दुःखका बल।"*

दुःखी आज समस्त मानव-जातिकी रंगभूमिपर अपनेको विराट रूपमें देख रहा है, यह बड़ी-भारी बात है। पहले अपनेको अलग देख रहा था, इसीसे किसी भी प्रकार अपने शक्तिरूपको नहीं देख सका था—भाग्यके भरोसे सब-कुछ सहता रहा था। आज अत्यन्त निरुपाय भी कम-से-कम उस स्वर्गराज्यकी कल्पना कर सकता है, जहाँ दुःखीका दुःख दूर होता है, अपमानितका अपमान दूर होता है। यही कारण है कि ससार-भरके दुःखजीवी आज जाग उठे हैं—उन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान हो गया है।

जो शक्तिमान हैं, वे उद्धत हैं। आज जिस शक्तिकी प्रेरणाने, दुःखियोंमें सचारित होकर, उन्हें चचल बना दिया है, बलशाली उसे बाहरसे दबा देना चाहते हैं—उसके दूतोंको घरमें घुसने नहीं देते, उनका गला घोंट दे रहे हैं। परन्तु वास्तवमें जिससे उन्हें सबसे अधिक डरना चाहिए था, वह है दुःखीका दुःख। पर उसीकी ये हमेशासे अवज्ञा करते आये हैं, और अब यह उनकी आदत पड़ गई है। अपने लाभके लिए उस दुःखको ये बढ़ाये ही जाते हैं, जरा भी नहीं डरते, अभागे किसानको दुर्भिक्षके कवलमें ठूसकर फी-सदी दो-तीन सौका मुनाफा उठानेमें

* परिशिष्ट देखो।

इनका हृदय नहीं काँपता। क्योंकि उस मुनाफेको ही ये शक्ति समझते हैं। परन्तु मानव-समाजके लिए सभी तरहकी अतिमें विपत्ति है, उसे बाहरसे कभी भी दबाया नहीं जा सकता। अति-शक्ति अति-अशक्तिके विरुद्ध हमेशा अपनेको बढ़ाये हुए नहीं चल सकती। क्षमताशाली यदि अपनी शक्तिके मदमें उन्मत्त न रहता, तो वह सबसे ज्यादा डरता इसी असाम्यकी ज्यादतीसे, क्योंकि असामजस्य-मात्र ही विश्वविधिके विरुद्ध है।

मास्कोसे जब निमंत्रण मिला, तब तक बोल्शेविकोंके सम्बन्धमे मेरे हृदयमे कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। उनके विषयमें बराबर उल्टी ही बातें सुनता आया था। मेरे मनमें उनके विरुद्ध एक खटका-सा था, क्योंकि प्रारम्भमे उनकी जो साधना थी, वह जबरदस्तीकी थी। मगर अब एक बात खास देखनेमे आई, यह कि इनके प्रति यूरोपमे जो विरुद्धता थी, वह अब क्षीण होती जा रही है। मैं रूस जा रहा हू, सुनकर बहुतोंने मुझे उत्साहित किया है। यहाँ तक कि एक अगरेजके मुँहसे भी इनकी प्रशसा सुनी है। बहुतोंने कहा है कि ये एक अति आश्चर्यजनक परीक्षामें लगे हुए हैं।

और बहुतोंने मुझे डराया भी था, पर डरानेका मुख्य विषय था आरामकी कमी। कहते थे, खाना-पीना सब ऐसा मामूली दर्जेका है कि मुझसे वह सहा नहीं जायगा। इसके सिवा ऐसी बात भी बहुतोने कही थी कि मुझे ये लोग जो-कुछ दिखायेंगे, उसका अधिकाश बनावटी होगा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि



साहित्य-सभामें रवीन्द्रनाथका स्वागत

आज मानव-समाजके एक ओर पुजीभूत हैं, दूसरी ओर सर्वत्र अनन्त नि सहायता-ही-नि.सहायता नजर आ रही है।

इसके कुछ दिन पहलेसे ही ढाकेके अत्याचारकी वात मेरे मनमे उधेड-बुन मचाये हुए थी। कैसो अमानुपिक निष्ठुरता थी वह, पर इंग्लैन्डके अखबारोंमे उसकी कोई खवर ही नहीं छपी—जव कि यहाँ किसी मोटर-दुर्घटनामे दो-एक आदमी मर जानेपर उसकी खवर देशके इस छोरसे उस छोर तक फैल जाती है—मगर हमारा धन-प्राण-मान तो वहुत ही सस्ता हो गया है। जो इतने सस्ते हैं, उनके विपयमे कभी न्याय या सुविचार हो ही नहीं सकता।

हमारी फरियाद ससारके कानो तक पहुच ही नहीं सकती, सारी राहे वद है। और मजा यह कि हमारे विरुद्ध ससार-व्यापी प्रचार करनेके उपाय इनके हाथमे पूरे तौरपर हैं। आज दिन कमज़ोर जातियोंके लिए यह भी एक वडी-भारी ग्लानिकी वात है, क्योंकि आज जमाना ऐसा है कि जनश्रुति या अफवाहे तक सारी दुनियामें फैल जाती है; वाक्य-चालनाके यत्र तो सव शक्तिमान जातिके हाथमें है, और वे वदनामी और अपयशकी ओटमे अशक्त जातियोंको विलुप्त रखना चाहते है। ससारके सामने यह वात काफी तौरसे प्रचारित है कि हम हिन्दू-मुसलमान आपसमें मार-काट करते हो रहते है, इसलिए इत्यादि। मगर यूरोपमे भी तो किसी दिन साम्प्रदायिक मार-काट होनी थी,—वह गई किस तरह? केवल एक शिक्षाके

प्रचारसे ही उसका लोप हुआ है। हमारे देशमे भी उसी उपायसे साम्प्रदायिक झगड़ोंका लोप हो सकता था, मगर अंग्रेजी शासनको यहाँ सौ वर्षसे भी अधिक हो गये, पर फी-सदी पाँच आदमियोके भाग्यमे ही शिक्षा जुटी, और वह भी शिक्षा नहीं— शिक्षाकी विडम्बना-मात्र है।

अवज्ञाके कारणोंको दूर करनेकी कोशिश न करके लोगोके सामने यह साबित करना कि हम अवज्ञाके ही योग्य हैं, यह हमारी अशक्तिका सबसे बड़ा टैक्स है। मनुष्यकी समस्त समस्याओके समाधानोंकी जड़ है सुशिक्षा। हमारे देशमे उसका रास्ता ही बन्द है, कारण, Law and Order (कानून और व्यवस्था) ने और किसी उपकारके लिए जगह ही नहीं रखी, खजाना बिलकुल खाली है। मैने देशके कार्मोमें शिक्षाके कामको श्रेष्ठ मान लिया था,—जनसाधारणको आत्म-शक्तिपर भरोसा रखनेको शिक्षा देनेके लिए अब तक मैने अपनी सारी सामर्थ्य लगा देनेकी कोशिश की है। इसके लिए सरकारकी अनुकूलताको भी मैने ठुकराया नहीं, और साथ ही कुछ आशा भी रखी है—मगर तुम तो जानती ही हो, कितना फल मिला है। समझ चुका हू, यह होनेका नहीं। हमारा पाप जबरदस्त है, हम अशक्त हैं।

इसीलिए जब सुना कि रूसमे सर्वसाधारणकी शिक्षा शून्य-अकसे एकदम बड़े अकोंमे बढ गई, तब मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि मेरा शरीर भले ही और भी कम हो जाय,

४

मास्कोसे सोवियटकी व्यवस्थाके सम्बन्धमे दो बडी-बडी चिट्ठियाँ लिखी थीं। वे कब मिलेंगी और मिलेंगी भी या नहीं, मालूम नहीं।

बर्लिनमे आकर एक साथ तुम्हारी दो चिट्ठियाँ मिलीं। घोर वर्षाकी चिट्ठी हैं ये, शान्ति-निकेतनके आकाशमे शालवनके ऊपर मेघकी छाया और जलकी धारामे मावन हिलोरें ले रहा है—यह चित्र मानसपटपर खिंचते ही मेरा चित्त कैसा उत्सुक हो उठता है, तुमसे तो कहना ही फिजूल है।

परन्तु अबकी जो रूसका चक्कर लगाया, तो वह चित्र मनसे धुल-पुछ गया। बार-बार मै अपने यहाँके किसानोंके कष्टोंकी बात सोच रहा हू। अपने यौवनके आरम्भकालसे ही बगालके ग्रामोंके साथ मेरा निकट-परिचय है। तब किसानोंसे रोज मेरी भेंट-मुलाकात होती थी—उनकी फरियादें मेरे कानो तक पहुचती थीं। मैं जानता हू कि उनके समान नि सहाय जीव बहुत थोडे ही होंगे, वे समाजके अँधेरे तहखानेमे पडे है, वहाँ ज्ञानका उजेला बहुत ही कम पहुचता है, और जीवनकी हवा तो आती ही नहीं, समझ लो।

उस जमानेमें जो लोग देशकी राजनीतिके क्षेत्रमें अखाड़ा जमाये हुए थे, उनमें से ऐसा कोई भी न था, जो ग्रामवासियोंको भी देशका आदमी समझता हो। मुझे याद है, पवना-कानफरेन्सके समय मैंने उस समयके एक बहुत बड़े राष्ट्र-नेतासे कहा था कि हमारे देशकी राष्ट्रीय उन्नतिको यदि हम सत्य या वास्तविक बनाना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें इन नीचेके लोगोंको आदमी बनाना होगा। उन्होंने उस बातको इतना तुच्छ समझकर उड़ा दिया कि मैं स्पष्ट समझ गया कि हमारे देश-नेताओंने 'देश' नामके तत्त्वको विदेशी पाठशालासे समझा है, अपने देशके मनुष्योंकी वे हृदयमें अनुभूति नहीं करते। ऐसी मनोवृत्तिसे लाभ सिर्फ इतना ही है कि 'हमारा देश विदेशियोंके हाथमें है'—इस बातपर हम पश्चात्ताप कर सकते हैं, उत्तेजित हो सकते हैं, कविता लिख सकते हैं, अखबार चला सकते हैं, मगर काम तो तभीसे शुरू होता है, जब हम अपने देशवासियोंको अपना आदमी कहनेके साथ ही साथ उसका दायित्व भी तभीसे स्वीकार कर लें।

तबसे बहुत दिन बीत गये। उस पवना-कानफ्रेन्समें ग्राम-संगठनके विषयमें मैंने जो कुछ कहा था, उसकी प्रतिध्वनि बहुत बार सुनी है—सिर्फ शब्द नहीं, ग्राम-हितके लिए अर्थ भी संग्रह हुआ है—परन्तु देशके जिस ऊपरी मंजिलमें शब्दोंकी आवृत्ति हुई है, वहीं वह अर्थ भी घूम-फिरकर विलुप्त हो गया है, समाजके जिस गहरे खदकमें गाँव डूबे हुए हैं, वहाँ तक उसका कुछ अंश भी नहीं पहुँचा।

एक दिन मने पद्माकी रेतीपर बोट लगाकर साहित्य-चर्चा की थी। मनमे ऐसी धारणा थी कि लेखनीसे भावको खान खोदूँगा, यही मेरा एकमात्र कार्य है, और किसी कामके में लायक ही नहीं। मगर जब यह बात कह-सुनकर किसीको समझा न सका कि हमारे स्वायत्त्वशासन या स्वराज्यका क्षेत्र है देहातोंमें, और उसका आन्दोलन आजसे ही शुरू करना चाहिए, तब कुछ देरके लिए मुझे कलम कानमें खोसकर यह बात कहनी ही पडी कि 'अच्छा, में ही इस काममें जुटूगा।' इस सकल्पमे मेरी सहायता करनेके लिए सिर्फ एक आदमी मिला था—वे हैं कालीमोहन। शरीर उनका रोगसे जीर्ण है, दोनों वक्त उन्हें बुखार आता है, और उसपर भी पुलिसके रजिस्टरमें उनका नाम चढ चुका है।

उसके बाद, फिर वह इतिहास दुर्गम ऊबडखाबड मार्गसे थोडासा तोशा लेकर चला है। मेरा अभिप्राय था—किसानोंको आत्म-शक्तिमें दृढ करना ही होगा। इस विषयमें दो बातें सदा ही मेरे हृदयमें आन्दोलित होती रही हैं—जमीनपर अधिकार न्यायत जमींदारका नहीं, बल्कि किसानका होना चाहिए, दूसरे, समवाय नीतिके अनुसार खेतीके खेत सब एकसाथ बिना मिलाये किसानोकी कभी उन्नति हो ही नहीं सकती। मानधाताके जमानेका हल लेकर मेडदार छोटेसे खेतमें फसल पैदा करना और फूटी गागरसे पानी लाना—दोनो एक ही बात है।

किन्तु ये दोनों ही मार्ग दुरूह हैं। पहले तो किसानोको

जमीनका अधिकार देनेसे वह स्वत्व दूसरे ही क्षण महाजनके हाथमें चला जायगा, इससे उनके कष्टोंका भार बढ़नेके सिवा घटेगा नहीं। खेतोंको एक साथ मिलाकर खेती करनेके विषयमें मैंने एक दिन किसानोंको बुलाकर इसकी चर्चा की थी। सिलाइदहमें मैं जिस मकानमें रहता था, उसके बरामदेसे एकके बाद एक दिगन्त तक खेत-ही-खेत दिखाई देते थे। खूब सबेरे ही उठकर हल-बैल लिये एक-एक किसान आता और अपना छोटासा खेत जोतकर घर लौट जाता। इस तरहकी बँटी हुई शक्तिका कितना अपव्यय होता है, सो मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। किसानोंको बुलाकर उन्हें जब सब खेतोंको एक साथ मिलाकर मशीनके हलसे खेती करनेकी सहूलियतें मैंने समझाई, तो उन लोगोंने उसे उसी समय मान लिया। मगर कहा—'हम लोग कमअकल हैं, इतना भारी काम कैसे सम्हालेंगे?' अगर मैं कह सकता कि उसका भार मैं लेनेको तयार हूं, तो फिर कोई झंझट ही न रहता, पर मुझमें इतनी सामर्थ्य कहां? ऐसे काममें चलानेका भार लेना मेरे लिए असम्भव है—वह शिक्षा, वह शक्ति मुझमें नहीं है।

परन्तु यह बात बराबर मेरे हृदयमें जाग्रत रही है। जब बोलपुरमें को-आपरेटिवकी व्यवस्थाका भार विश्वभारतीके हाथमें आया, तब फिर एक दिन आशा हुई थी कि अबकी बार शायद मौक़ा मिल जायगा। जिनके हाथमें आफिसका भार है, उनकी उमर कम है, मुझसे उनकी बुद्धि कहीं विचारशील और शिक्षा

बहुत ज्यादा है। परन्तु हमारे युवक ठहरे स्कूल-सिखुए, और किताव-रट्टू है उनका हृदय। हमारे देशमे जो शिक्षा प्रचलित है, उससे हममें विचार करनेकी शक्ति, साहस और काम करनेकी दक्षता नहीं रहती, किताबी बोलियोकी पुनरावृत्ति करनेपर ही छात्रोंका उद्धार अवलम्बित है।

बुद्धिकी इस पल्लवग्राहिताके सिवा हमारे अंदर और भी एक विपत्तिका कारण मौजूद है। स्कूलमे जिन्होंने पाठ कंठ किये हैं, और स्कूलके बाहर रहकर जिन्होंने पाठ कंठ नहीं किये, इन दोनोंमे श्रेणी-विभाग हो चुका है—शिक्षित और अशिक्षितका। स्कूलमें पढ़े मनका आत्मीयता-ज्ञान पोथी-पढोके पाठके बाहर नहीं पहुच सकता। जिन्हे हम गँवार-किसान कहते हैं, पोथीके पन्नोंका पर्दा भेदकर उन तक हमारी दृष्टि नहीं जाती, वे हमारे लिए अस्पष्ट हैं। इसीलिए वे हमारे सब प्रयत्नोके बाहर रहकर स्वभावत ही अलग छूट जाते है। यही कारण है कि को-आपरेटिव या सहयोग-समितियोके जरिये अन्य देशोंमे जब समाजके निम्न-श्रेणीमे एक सृष्टिका कार्य चल रहा है, तब हमारे देशमे दबे-हाथो रुपये उधार देनेके सिवा आगे और कुछ काम नहीं बढ सका। क्योंकि उधार देना, उसका सूद जोडना और रुपये वसूल करना अत्यन्त भीरु हृदयके लिए भी सहज काम है, बल्कि यो कहना चाहिए कि भीरु हृदयके लिए ही सहज है, उसमे यदि गिनतीकी भूल न हो तो कोई आशका ही नहीं।

दोनोंके अभावसे ही दुःखीका दुःख दूर करना हमारे देशमे इतना कठिन काम हो गया है, परन्तु इस अभावके लिए किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि क्लार्क-फैक्टरी बनानेके लिए ही एक दिन हमारे देशमे वणिक-राज्य द्वारा स्कूल खोले गये थे। टविल-लोकमे मालिकके साथ सायुज्य (अभेद) प्राप्त करनेमे ही हमारी सद्गति है। इसीलिए उम्मेदवारीमे अकृतार्थ होते ही हमारी विद्या-शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए हमारे देशमें प्रधानत देशका काम कांग्रेसके पडाल और अखबारोंकी लेखमालामे शिक्षित सम्प्रदायके वेदना-उद्घोषणमे ही चक्कर काट रहा था। हमारे कलमसे बँधे हाथ देशको बनानेके काममे आगे बढ ही न सके।

मै भी तो भारतकी ही आबहवामे पला हू, इसीलिए ज़ोरके साथ इस बातको कयासमे लानेकी हिम्मत न कर सका कि करोडों जनसाधारणकी छातीपरसे अशिक्षा और असामर्थ्यका पहाड उतारना सम्भव है। अब तक यही सोचता रहा हू कि थोडा-बहुत कुछ किया जा सकता है या नहीं। सोचा था, समाजका एक चिरबाधा-ग्रस्त जो नीचेका अंश है, जहाँ कभी भी सूर्यका प्रकाश पूर्णरूपसे नहीं पहुचाया जा सकता, वहाँ कमसे कम तेलकी बत्ती जलानेके लिए कमर कसकर जुट जाना चाहिए। परन्तु साधारणत उतना कर्तव्य-बोध भी लोगोंके दिलपर काफी जोरके साथ धक्का नहीं लगाता, क्योंकि जिन्हें हम अंधेरेमे देख ही नहीं सकते, उनके लिए कुछ भी किया जा सकता है—यह बात भी साफ तौरसे हमारे मनमे नहीं आती।

इस तरहके स्वल्प साहसी हृदयको लेकर ही रूसमें आया था, सुना था—यहाँ किसान और मजदूरोंमें शिक्षा-प्रचारका कार्य बहुत ज्यादा बढ गया है, और बढता ही जाता है। सोचा था, इसके मानी ये हैं कि यहाँ ग्रामीण पाठशालाओंमें 'शिशु-शिक्षा' का पहला भाग या बहुत हो तो दूसरा भाग पढानेका कार्य, सख्यामे, हमारे देशसे अधिक हुआ है। सोचा था, उनकी साख्यिक सूची उलट-फेरकर देख सकूगा कि वहाँके कितने किसान दस्तखत कर सकते हैं और कितनोंने १० तक पहाडे याद कर लिये हैं।

याद रखना, यहाँ जिस क्रान्तिने जारका शासन लुप्त किया है, वह हुई है १९१७ मे। अर्थात् उस घटनाको हुए सिर्फ तेरह वर्ष हुए हैं। इसी बीचमें उन्हें क्या घर और क्या बाहर, सर्वत्र प्रचड विरुद्धताके साथ युद्ध करना पडा है। ये अकेले हैं, और इनके ऊपर एक बिलकुल टूटे-फूटे राष्ट्रकी व्यवस्थाका भार है। मार्ग इनका पूर्व दु शासनके कूडे-करकटकी गदगीसे भरा पडा है—दुर्गम है। जिस आत्म-क्रान्तिके प्रबल तूफानके समय इन लोगोने नवयुगके घाटके लिए यात्रा की थी, उस क्रान्तिके प्रच्छन्न और प्रकाश्य सहायक थे इंग्लैन्ड और अमेरिका। आर्थिक अवस्था या पूँजी इनके पास बहुत ही थोडी है—विदेशके महाजनोंकी गद्दियोंमें इनकी क्रेडिट नहीं है। देशमे इनके कल-कारखाने काफी तादादमे न होनेसे अर्थोपार्जनमे ये शक्तिहीन हैं, इसलिए किसी तरह पेटका अन्न बचकर इनका उद्योगपर्व चल रहा है।

इसपर राष्ट्र-व्यवस्थामें सबसे बढ़कर जो अनुत्पादक विभाग—सेना-विभाग है, उसके पूरी तरहसे सुदक्ष रखनेका अपव्यय भी इनके लिए अनिवार्य है। क्योंकि आधुनिक महाजनी युगकी समस्त राष्ट्र-शक्तियाँ इनकी शत्रु हैं, और उन सबोंने अपनी-अपनी अस्त्रशालाएं छत तक भर रखी हैं।

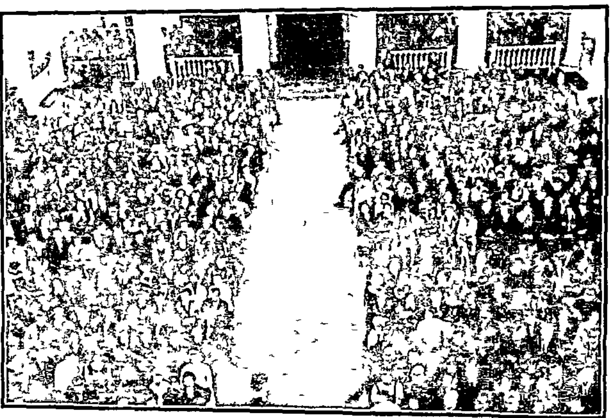
याद है, इन्हीं लोगोंने लीग-आफ्-नेशन्समें अस्त्र निषेधका प्रस्ताव भेजकर कपट शान्ति-इच्छुकोंके मनको चौंका दिया था। क्योंकि अपना प्रताप बढ़ाना या उसकी रक्षा करना सोवियटोंका लक्ष्य नहीं है—इनका उद्देश्य है सर्वसाधारणकी शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्न और जीवनकी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके उपाय-उपकरणोंको प्रकृष्ट प्रणालीसे व्यापक बना देना, इन्होंके लिए निरुपद्रव शक्तिकी सबसे अधिक आवश्यकता है। परन्तु तुम तो जानते ही हो, लीग-आफ्-नेशन्सके सभी पहलवान गुंडईके बहु-विस्तृत उद्योगको किसी तरह भी बंद नहीं करना चाहते, महज इसलिए कि शान्तिकी जरूरत है सब मिलकर पुकार मचाते हैं। यही कारण है कि सभी साम्राज्यवाले देशोंमें अस्त्र-शस्त्रके कटीले जंगलकी फसल अन्नकी फसलसे आगे बढ़ती जा रही है। इसी बीचमें कुछ समय तक रूसमें बड़ा-भारी दुर्भिक्ष भी पड़ा था—कितने आदमी मरे, जिसका ठीक नहीं। उसकी ठेस सहकर भी सिर्फ आठ वर्षसे ये नये युगको गढ़नेका काम कर रहे हैं—बाहरके उपकरणोंका अभाव होते हुए भी।

यह मामूली काम नहीं है—यूरोप और एशिया-भरमें

चेहरा देखनेके लिए मुझे दूर नहीं जाना पडा, या स्कूल इन्स्पेक्टरकी तरह हिज्जे पूछते समय यह नहीं देखना पडा ये "गणा" और "वाणी" में मूर्धण्य 'ण' लगाते हैं या दन्ती। दिन शामको मास्को शहरमें एक मकानपर गया। वह किसान रहनेका घर था, गाँवसे जब किसी कामसे वे शहरमें आते तो सस्तेमें उसी मकानमें उन्हें रहने दिया जाता है। लोगोंसे मेरी बातचीत हुई थी। उस तरहकी बातें हमारे देशके किसानोंसे होगी, उस दिन हम साइमन-कमीशन जवाब दे सकेंगे।

और कुछ नहीं, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सभी कु हो सकता था, मगर हुआ नहीं—न सही, हमें मिला, Law and Order। हमारे यहाँ साम्प्रदायिक लडाइयाँ होती रह हैं, और इसके लिए हमारी खास तौरसे बदनामी की जाती है— यहाँ भी यहूदी सम्प्रदायके साथ ईसाई सम्प्रदायकी लडाई हमा ही देशके आधुनिक उपसर्गकी तरह अत्यन्त कुत्सित और ब ही जंगली ढगसे होती थी—शिक्षा और शासनके द्वारा एकद जडसे उसका नाश कर दिया गया है। कितनी ही बार मैं सोचा है कि साइमन-कमीशनको भारतमें आनेसे पहले एक बार रूस घूम जाना उचित था।

तुम-जैसी भद्र-महिलाको साधारण भद्रता-पूर्ण चिट्ठी न लिखकर इस तरहकी चिट्ठी क्यों लिख रहा हू, इसका कारण सोचोगी तो समझ जाओगी कि देशकी हालत ऐसे मनमें



रवीन्द्रनाथके लिए कवि सवर्द्धना सभा

आन्दोलन मचा रखा है। जालियानवाला बागके उपद्रवके बाद और भी एक बार मेरे मनमे ऐसी अशान्ति हुई थी। ढाकेके उपद्रवके बाद आज फिर उसी तरह दु:खित हो रहा हू। उस घटनापर सरकारी पलस्तर चढा है, मगर इस तरहके सरकारी पलस्तरकी क्या कीमत है, सो राजनीतिज्ञ समझते हैं। ऐसी घटना अगर सोवियट रूसमें होती, तो किसी भी पलस्तरसे उसका कलंक नहीं ढक सकता था। सुधीन्द्र—हमारे देशके राष्ट्रीय आन्दोलनपर जिसकी कभी भी किसी तरहकी श्रद्धा नहीं थी—उसने भी अबकी बार मुझे ऐसी चिट्ठी लिखी है, जिससे पता चलता है कि सरकारी धर्मनीतिके प्रति धिक्कार आज हमारे देशमें कहाँ तक बढ गया है। खैर, आज तुम्हारी चिट्ठी अधूरी ही रही—कागज और समय खतम हो आया, दूसरी चिट्ठीमे इसके अपूर्ण अंशको पूरा करूगा।

२८ सितम्बर, १९३०

## ५

*बर्लिन, जर्मनी*

मास्कोसे तुम्हे मैं एक बडी चिट्ठीमें रूसके बारेमे अपनी धारणा लिख चुका हू। वह चिट्ठी अगर मिल गई होगी, तो रूसके बारेमें कुछ बातें तुम्हें मालूम हो गई होंगी।

यहाँ किसानोंकी सर्वाङ्गीन उन्नतिके लिए कितना काम किया जा रहा है, उसीका वर्णन थोड़ासा लिखा था। हमारे देशमें जिस श्रेणीके लोग मूक और मूढ़ हैं, जीवनके सम्पूर्ण सुयोगोंसे वंचित होकर जिनका मन भीतर और बाहरकी दीनतासे बैठ गया है, यहाँ उसी श्रेणीके लोगोंसे जब मेरा परिचय हुआ, तब मैं समझ सका कि समाजके अनादरसे मनुष्यकी चित्त-सम्पद कहाँ तक लुप्त हो सकती है—कैसा असीम उसका अपव्यय है, कैसा निष्ठुर उसका अविचार है।

मास्कोमे एक कृषि-भवन देखने गया था। यह संस्था क्लबकी क्लब-सी है। रूसके समस्त छोटे-बड़े शहरों और ग्रामोंमें इस तरहके भवन बने हुए हैं। इन सब स्थानोंमें कृषि-विद्या समाज-तत्त्व आदि विषयोंपर उपदेश दिये जाते हैं, जो निरक्षर हैं, उनके लिए पढ़ने-लिखनेका इन्तजाम किया जाता है, और खास-खास क्लासोंमे किसानोंको वैज्ञानिक ढंगसे खेती करनेकी शिक्षा दी जाती है—हर तरहसे यह विषय उन्हें समझाया जाता है। इसी तरह प्रत्येक भवन प्राकृतिक और सामाजिक—सब तरहके शिक्षणीय विषयोंकी म्यूजियम है। इसके अलावा इनमें किसानोंको और भी सब तरहके उपयोगी परामर्श दिये जानेकी व्यवस्था है।

किसान जब किसी कामसे गाँवसे शहरमे आते हैं, तो बहुत ही कम खर्चमें कम-से-कम तीन सप्ताह तक इस तरहके मकानोंमे रह सकते हैं। इस बहु-व्यापक संस्थाके द्वारा सोवियट-सरकारने ऐसे किसानोंके—जो किसी समय बिलकुल निरक्षर थे—चित्तको

उद्बोधित करके उनमें समाजव्यापी नया जीवन ला देनेकी प्रशंसनीय नींव डाल दी है।

भवनमें घुसते ही क्या देखता हूं, कोई भोजनागारमे बैठे भोजन कर रहे हैं, तो कोई पाठागारमे बैठे अखबार पढ़नेमें लगे हुए हैं। ऊपरके एक कमरेमें जाकर मै बैठा—वहां सब आकर इकट्ठे हुए। इनमे अनेक स्थानोंके आदमी थे, कोई बहुत दूरका है, तो कोई नजदीकका। उनका स्वभाव सरल और स्वाभाविक है, किसी तरहका सकोच नहीं।

पहले स्वागत और परिचयके लिए भवनके परिदर्शकने कुछ कहा—मैंने भी कुछ कहा। उसके बाद उन लोगोंने मुझसे प्रश्न करना शुरू कर दिया।

पहला प्रश्न, उनमे से एकने किया—"भारतमे हिन्दू-मुसलमानोंमें झगडा क्यों होता है?"

मैंने कहा—"जब मेरी कम उम्र थी, कभी इस तरहकी बर्बरता नहीं देखी। उस समय गाँव और शहर—सर्वत्र दोनों सम्प्रदायोंमें सौहार्द्यकी कमी नहीं थी। परस्पर एक-दूसरेके क्रिया-कांडोंमे भाग लिया करते थे, जीवन-यात्राके सुख-दुःखोंमे दोनों एक थे। अब जो बीच-बीचमे कुत्सित घटनाएँ होती दिखाई देती हैं, वे देशके राष्ट्रीय आन्दोलनके बादसे शुरू हुई हैं। परन्तु, पडोसियोंमे परस्पर इस प्रकारके अमानुषिक दुर्व्यवहारके ताजे कारण चाहे जो हों, इसका मूल कारण है सर्वसाधारणमे अशिक्षा। जितनी शिक्षाके द्वारा इस तरहकी दुर्बुद्धि दूर हो

सकती है, उतनी शिक्षाका प्रचलन आज तक वहाँ नहीं हुआ। तुम्हारे यहाँ जो कुछ देखा, उससे मैं विस्मित हो गया हू।"

प्रश्न—"तुम तो लेखक हो, अपने यहाँके किसानोंके बारेमें कुछ लिखा है? भविष्यमे उनकी क्या गति होगी?"

उत्तर—"सिर्फ लिखा ही नहीं, उनके लिए मैंने काम भी छेड दिया है। अकेलेसे जितना सम्भव है, उतनेसे उनकी शिक्षाका काम चलाता हू, गाँवोंकी उन्नतिके लिए उनकी सहायता करता हू। परन्तु तुम्हारे यहाँ जो शिक्षाका विराट आयोजन थोडे ही समयमें हुआ है, उसकी तुलनामें मेरा वह उद्योग बहुत ही मामूली है।"

प्रश्न—"हमारे यहाँ जो किसानो के संगठनका उद्योग हो रहा है, उस सम्बन्धमे तुम्हारा क्या मत है?"

उत्तर—"मत देने योग्य मेरा अनुभव नहीं हुआ है, मैं तुम्हीं लोगोंसे सुनना चाहता हू। मैं यह जानना चाहता हू कि इसमे तुम लोगोंकी इच्छाके विरुद्ध कोई ज़बरदस्ती की जाती है या नहीं?"

प्रश्न—"क्या भारतमे साधारणत सब-कोई यहाँके सगठन तथा अन्य सब उद्योगोंके विषममे कुछ जानकारी नहीं रखते?"

उत्तर—"जानने लायक शिक्षा बहुत कम लोगो में है। इसके सिवा तुम्हारे यहाँके समाचार कितने ही कारणो से दब जाया करते हैं। और जो-कुछ उनके कानों तक पहुचता है, वह सब विश्वास-योग्य नहीं।"

प्रश्न—"हमारे यहाँ ये जो किसानो के लिए भवनोंकी व्यवस्था है, इस सम्बन्धमें क्या पहले आप कुछ नहीं जानते थे?"

उत्तर —"तुम लोगो के हितके लिए क्या-क्या हो रहा है, यह ने मास्कोमें आकर देखा और जाना। कुछ भी हो, अब मेरे श्नो का उत्तर तुम लोग दो।—किसान प्रजाके लिए इस सगठनके ारेमें तुम्हारा क्या मत है, तुम्हारी इच्छा क्या है ?"

एक युवक किसान, जो यूक्रेन प्रदेशसे आया है, बोला— दो वर्ष हुए एक रैकत्रिक (सगठित) कृषि-क्षेत्रकी स्थापना हुई ; मैं उसमें काम करता हू। इस खेतीमें फलो की फसलके ेए बाग हैं, वहाँसे फल और साग-सब्जी सब कारखानो को जी जाती है। वहाँ वह टीनके डब्बो मे पैक होती है। इसके सवा बडे बडे खेत हैं, वहाँ गेहूकी खेती होती है। आठ घंटे मे काम करना पडता है, हर पाँचवें दिन हमारी छुट्टी रहती है। हमारे पडोमी जितने भी किसान अपनी खेती आप करते हैं, उनकी अपेक्षा हमारे यहाँ कम से-कम दूनी फसल होती है।

"लगभग प्रारम्भमे ही, हमारी सगठित खेतीमे डेढ सौ किसानोंके खेत मिलाये गये थे। १९२९ मे आधे किसानोंने अपने खेत वापस ले लिये। उसकी वजह यह हुई कि सोवियट कम्यून दलके प्रधान मत्री स्टैलिनके उपदेशानुसार हमारे कर्मचारियोंने ठीक तरहसे काम नहीं किया। उनका मत है कि समष्टिवाद (कम्यूनिज्म) की मूल नीति है ममाजका समष्टिरूपसे स्वेच्छाकृत सगठन। परन्तु बहुत जगह ऐसा हुआ कि कार्यकर्त्ता इस बातको भूल गये, जिससे शुरूआतमे बहुतसे किसानो ने सगठित छोड दिया। उसके बाद क्रमश उनमें से चौथाई

आकर सम्मिलित हुए। अब हमे पहलेसे भी अधिक बल मिल गया है। अब हम संगठित किसानों के रहनेके लिए नये मकान हैं, नई भोजनशालाएँ हैं और नये स्कूल खुल गये है।"

इसके बाद साइबिरियाकी एक किसान स्त्रीने कहा—"संगठित खेतीके काममे मैं लगभग दस वर्षसे हू। एक बात याद रखें, सगठित कृषि-क्षेत्र ( collective farm ) के साथ नारी-उन्नतिके उद्यमका घनिष्ट सम्बन्ध है। आज दस वर्षके अदर यहाँ किसान स्त्रियो मे काफी परिवर्तन हो गया है। अपनेपर उन्हें बहुत कुछ भरोसा हो गया है। जो स्त्रियाँ पिछड़ी हुई है और सगठित खेतीमें जो बाधक हैं, उनमे भो हम सगठित स्त्रियाँ धीरे-धीरे जीवनका संचार कर रही हैं। हमने सगठिन स्त्रियो का दल बना लिया है, भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें वे भ्रमण करती हैं और स्त्रियोंमें काम करती हैं—मानसिक और आर्थिक उन्नतिके लिए सगठन कैसा लाभदायक है, इस बातको वे समझाया करती हैं। संगठित दलकी किसान स्त्रियो की जीवन-यात्राको सहज बनानेके लिए प्रत्येक संगठित खेतमे बच्चो के लालन-पालनके लिए एक-एक शिशु-पालनागार, शिशु-विद्यालय और साधारण पाकशालाएँ स्थापित की गई हैं।"

सुखोज प्रान्तमे जाइगान्ट नामका एक प्रसिद्ध सरकारी कृषि-क्षेत्र है। वहाँके एक किसानने, रूसमें सगठित खेती आदिका कैसा विस्तार हो रहा है, इस विषयमें मुझसे कहा—"हमारे इस खेतकी जमीनका परिमाण एक लाख हेक्टर ( hectares ) है। पिछली साल वहाँ तीन हजार किसान काम करते थे। इस

साल सख्या कुछ घट गई है, मगर फसल पहलेसे कुछ घटेगी ही, घटेगी नहीं। क्योंकि जमीनमें विज्ञानके अनुसार खाद देने और मशीनके हलसे काम लेनेकी व्यवस्था हो गई है। इस तरहके हल हमारे यहाँ तीन सौसे ज्यादा होंगे। प्रतिदिन आठ घंटे काम करनेकी मियाद है। जो उससे ज्यादा काम करते हैं, उन्हें ऊपरी पारिश्रमिक मिलता है। जाडोके दिनोंमें खेतीका काम घट जाता है, तब किसान शहरोंमें जाकर मकान बनाने और सडक मरम्मत करने आदिका काम करते हैं। उस अनुपस्थितिके समय भी उन्हें वेतनका तिहाई हिस्सा मिला करता है और उनके परिवारके लोगोंको उन्हीं निर्दिष्ट घरोंमें रहने दिया जाता है।"

मैंने कहा—"सगठित खेतीमें अपनी निजी सम्पत्ति मिला देनेके बारेमें तुम लोगोंकी कोई आपत्ति या सम्मति हो, तो मुझे साफ-साफ बताओ।"

परिदर्शकने प्रस्ताव किया कि हाथ उठवाकर मत लिया जाय। देखा गया कि ऐसे भी बहुतसे आदमी हैं, जिनकी सम्मति नहीं है। असम्मतिका कारण क्या है, पूछनेपर वे अच्छी तरह समझा नहीं सके। एकने कहा—"मैं अच्छी तरह समझ नहीं सका।" साफ समझमें आ गया कि असम्मतिका कारण मानव-चरित्रमें ही मौजूद है। अपनी सम्पत्तिपर अपनी ममता—यह तर्कका विषय नहीं है, यह हमारा सस्कार है। अपनेको हम प्रकट करना चाहते हैं, सम्पत्ति उस प्रकाशनका एक उपाय है।

उससे भी बड़ा उपाय जिनके हाथमें है, वे महान हैं, वे सम्पत्तिकी पर्वाह नहीं करते। सब-कुछ खो देनेका काम पड़े तो उसमें भी उन्हें कोई बाधा नहीं। परन्तु साधारण मनुष्यके लिए अपनी सम्पत्ति अपने व्यक्ति-रूपकी भाषा है—उसके खो जानेपर वह गूँगा-सा बन जाता है। सम्पत्ति यदि सिर्फ अपनी जीविकाके लिए ही होती, आत्म-प्रकाशके लिए न होती, तो युक्तियोंसे समझाना सहज हो जाता कि उसके त्यागसे ही जीविकाकी उन्नति हो सकती है। आत्म-प्रकाशके उच्चतम उपाय—जैसे बुद्धि, गुण, स्वभाव—कोई किसीसे ज़बरदस्ती छीन नहीं सकता, सम्पत्ति छीनी जा सकती है, धोखेसे, उड़ाई जा सकती है। इसीलिए सम्पत्तिके बाँट-बँटवारा और भोगके अधिकारके लिए समाजमें इतनी निष्ठुरता, इतनी धोखेबाजी और इतना अन्तहीन विरोध है।

मेरी तो धारणा है कि इसका एक ही मध्यम दरजेका समाधान हो सकता है, वह यह कि व्यक्तिगत सम्पत्ति तो रहे, पर उसके भोगकी एकान्त या अत्यधिक स्वतंत्रताको सीमित कर दिया जाय। उस सीमाके बाहरका अवशिष्ट अंश सर्वसाधारणके लिए निकल जाना चाहिए। फिर सम्पत्तिका ममत्व लालच, धोखेबाज़ी या निष्ठुरता तक नहीं पहुचेगा।

सोवियटोंने इस समस्याका समाधान करते हुए उसे अस्वीकार करना चाहा है। इसके लिए जबरदस्तीकी हद नहीं। यह बात तो कही ही नहीं जा सकती कि मनुष्यको स्वतंत्रता नहीं रहेगी, बल्कि यह कहा जा सकता है कि स्वार्थपरता नहीं

रहेगी। अर्थात् अपने लिए कुछ तो अपना होना ही चाहिए, परन्तु बाकी दूसरोंके लिए होना चाहिए। स्व और पर दोनोंको स्वीकार करके ही उसका समाधान हो सकता है। दोनोंमें से किसी एकको निकाल देनेसे मानव-चरित्रका सत्यसे युद्ध छिड जाता है। पाश्चात्य महादेशके मनुष्य 'जोर' पर अत्यधिक विश्वास रखते हैं। जिस क्षेत्रमें जोरकी दरअसल जरूरत है, वहाँ वह निःसन्देह बडे कामकी चीज हैं, पर अन्यत्र उससे विपत्तिकी ही सम्भावना है। सत्यके बलको शारीरिक बलसे जितनी ही प्रबलतासे मिलाया जायगा, एक दिन उतनी ही प्रबलतासे उसका विच्छेद होगा-ही-होगा।

मध्य-एशियाके बास्किर रिपब्लिक (Bashkir Republic) के एक किसानने कहा—"इस समय भी मेरा अलग खेत है, मगर फिर भी मैं पासके सगठित कृषि-क्षेत्रमे शीघ्र ही शामिल हो जाऊगा। क्योंकि मे देख रहा हू कि अलग खेती करनेकी अपेक्षा सगठित खेतीमे बहुत अच्छी और ज्यादा फसल होती है। जब कि अच्छी तरह खेती करनेके लिए मशीनकी जरूरत पडती ही है—और छोटी खेती करनेवालोंके लिए उसका खरीदना असम्भव है। इसके सिवा, छोटी-छोटी जमीनोंमे मशीनके हलसे काम लेना असम्भव है।"

मैने कहा—"कल एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारीसे बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा—'स्त्रियों और बच्चोंके लिए हर तरहकी सुविधाएँ जैसे सोवियट-सरकार द्वारा दी गई हैं, उतनी और कहीं भी

उससे भी बडा उपाय जिनके हाथमे है, वे महान हैं, वे सम्पत्तिकी पर्वाह नहीं करते। सब-कुछ खो देनेका काम पडे तो उसमें भी उन्हे कोई बाधा नहीं। परन्तु साधारण मनुष्यके लिए अपनी सम्पत्ति अपने व्यक्ति-रूपकी भाषा है—उसके खो जानेपर वह गूँगा-सा बन जाता है। सम्पत्ति यदि सिर्फ अपनी जीविकाके लिए ही होती, आत्म-प्रकाशके लिए न होती, तो युक्तियोंसे समझाना सहज हो जाता कि उसके त्यागसे ही जीविकाकी उन्नति हो सकती है। आत्म-प्रकाशके उच्चतम उपाय—जैसे बुद्धि, गुण, स्वभाव—कोई किसीसे ज़बरदस्ती छीन नहीं सकता, सम्पत्ति छीनी जा सकती है, धोखेसे उडाई जा सकती है। इसीलिए सम्पत्तिके बाँट-बँटवारा और भोगके अधिकारके लिए समाजमें इतनी निष्ठुरता, इतनी धोखेबाजी और इतना अन्तहीन विरोध है।

मेरी तो धारणा है कि इसका एक ही मध्यम दरजेका समाधान हो सकता है, वह यह कि व्यक्तिगत सम्पत्ति तो रहे, पर उसके भोगकी एकान्त या अत्यधिक स्वतन्त्रताको सीमित कर दिया जाय। उस सीमाके बाहरका अवशिष्ट अंश सर्वसाधारणके लिए निकल जाना चाहिए। फिर सम्पत्तिका ममत्व लालच, धोखेबाज़ी या निष्ठुरता तक नहीं पहुचेगा।

सोवियटोंने इस समस्याका समाधान करते हुए उसे अस्वीकार करना चाहा है। इसके लिए जबरदस्तीकी हद नहीं। यह बात तो कही ही नहीं जा सकती कि मनुष्यकी स्वतन्त्रता नहीं रहेगी, बल्कि यह कहा जा सकता है कि स्वार्थपरता नहीं

रहेगी। अर्थात् अपने लिए कुछ तो अपना होना ही चाहिए, परन्तु बाकी दूसरोंके लिए होना चाहिए। स्व और पर दोनोंको स्वीकार करके ही उसका समाधान हो सकता है। दोनोंमें से किसी एकको निकाल देनेसे मानव-चरित्रका सत्यसे युद्ध छिड़ जाता है। पाश्चात्य महादेशके मनुष्य 'ज़ोर' पर अत्यधिक विश्वास रखते हैं। जिस क्षेत्रमें जोरको दरअसल जरूरत है, वहाँ वह निःसन्देह बड़े कामकी चीज है, पर अन्यत्र उससे विपत्तिकी ही सम्भावना है। सत्यके बलको शारीरिक बलसे जितनी ही प्रबलतासे मिलाया जायगा, एक दिन उतनी ही प्रबलतासे उसका विच्छेद होगा-ही-होगा।

मध्य-एशियाके बास्किर रिपब्लिक (Bashkir Republic) के एक किसानने कहा—"इस समय भी मेरा अलग खेत है, मगर फिर भी मैं पासके संगठित कृषि-क्षेत्रमें शीघ्र ही शामिल हो जाऊंगा। क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि अलग खेती करनेकी अपेक्षा संगठित खेतीमें बहुत अच्छी और ज्यादा फसल होती है। जब कि अच्छी तरह खेती करनेके लिए मशीनकी जरूरत पड़ती ही है—और छोटी खेती करनेवालोंके लिए उसका खरीदना असम्भव है। इसके सिवा, छोटी-छोटी जमीनोंमें मशीनके हलसे काम लेना असम्भव है।"

मैंने कहा—"कल एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारीसे बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा—'स्त्रियों और बच्चोंके लिए हर तरहकी सुविधाएँ जैसे सोवियट-सरकार द्वारा दी गई हैं, उतनी और कहीं भी

उससे भी वडा उपाय जिनके हाथमें है, वे महान हैं, वे सम्पत्तिकी पर्वाह नहीं करते। सन-कुछ खो देनेका काम पडे तो उसमें भी उन्हें कोई वाधा नहीं। परन्तु साधारण मनुष्यके लिए अपनी सम्पत्ति अपने व्यक्ति-रूपकी भाषा है—उसके खो जानेपर वह गूँगा-सा वन जाता है। सम्पत्ति यदि सिर्फ अपनी जीविकाके लिए ही होती, आत्म-प्रकाशके लिए न होती, तो युक्तियोंसे समझाना सहज हो जाता कि उसके त्यागसे ही जीविकाकी उन्नति हो सकनी है। आत्म-प्रकाशके उच्चतम उपाय—जैसे वुद्धि, गुण, स्वभाव—कोई किसीसे ज़वरदस्ती छीन नहीं सकता, सम्पत्ति छीनी जा सकती है, धोखेसे उडाई जा सकती है। इसीलिए सम्पत्तिके वॉंट-वेटवारा और भोगके अधिकारके लिए समाजमें इतनी निष्ठुरता, इतनी धोखेवाजी और इतना अन्तहीन विरोध है।

मेरी तो धारणा है कि इसका एक ही मध्यम दरजेका समाधान हो सकता है, वह यह कि व्यक्तिगत सम्पत्ति तो रहे, पर उसके भोगकी एकान्त या अत्यधिक स्वतत्रताको सीमित कर दिया जाय। उस सीमाके वाहरका अवशिष्ट अश सर्वसाधारणके लिए निकल जाना चाहिए। फिर सम्पत्तिका ममत्व लालच, धोखेवाज़ी या निष्ठुरता तक नहीं पहुचेगा।

सोवियटोंने इस समस्याका समाधान करते हुए उसे अस्वीकार करना चाहा है। इसके लिए जवरदस्तीकी हद नहीं। यह वात तो कही ही नहीं जा सकती कि मनुष्यकी स्वतत्रता नहीं रहेगी, वल्कि यह कहा जा सकता है कि स्वार्थपरता नहीं

बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक परीक्षाशालाएँ आजरबाइजन, उजबेकिस्तान, जार्जिया, यूक्रेन आदि रूसके कोने-कोनेमें स्थापित हो गई हैं।

रूसके समस्त देश-प्रदेशोंको, जाति-उपजातियोंको समर्थ और शिक्षित बना डालनेके लिए इतना बड़ा सर्वव्यापी असाधारण अथक उद्योग भारतकी ब्रिटिश प्रजाकी सुदूर कल्पनाके परे है। इस बातको मैं यहाँ आनेसे पहले सोच ही न सका था कि इतना आगे बढ़ जाना भी सम्भव है। क्योंकि बचपनसे हम जिस Law and Order की आबहवामें पले हैं, वहाँ ऐसे दृष्टान्त देखे ही नहीं जो इसके पास तक फटक सकते हों।

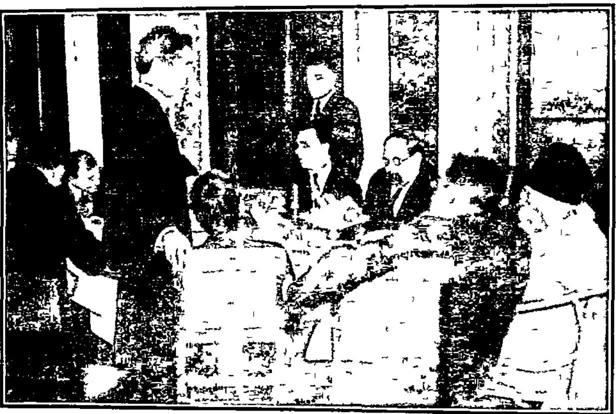
अबकी बार इंग्लैंड रहते हुए मैंने एक अंग्रेजसे पहले-पहल यह सुना था कि सर्वसाधारणके हितके लिए इन लोगोंने कैसा असाधारण आयोजन किया है। सब आँखोंसे देखा—देखा कि इनके राष्ट्रमें जाति-वर्णका विचार तो ज़रा भी नहीं है। सोवियट-शासनके अन्तर्गत लगभग बर्बर प्रजाओंमें शिक्षा-प्रचारके लिए इन लोगोंने जिस उत्कृष्ट पद्धतिकी व्यवस्था की है, भारतके सर्वसाधारणके लिए वह दुर्लभ है। फिर भी, अशिक्षाके अनिवार्य फल-स्वरूप हमारी बुद्धि और हमारे चरित्रमें जो दुर्बलता है, हमारे व्यवहारमें जो मूढ़ता है, देश-विदेशोंमें भी उसकी बदनामी हो रही है। अंग्रेजोंमें एक कहावत है 'जिस कुत्तेको फाँसी देनी हो, उसकी बदनामी करनेसे काम सहज हो जाता है।' जिससे बदनामी कभी मिट ही न सके, ऐसा उपाय करनेसे यावज्जीवन कैद और फाँसी दोनोंको मिला लिया जा सकता है।

१ अक्टोबर, १९३०

सिर्फ धनियोंका नहीं। हम अपने लोभके कारण मशीनोंको दोष देते हैं, नशेबाजीके लिए दड देते है ताडवृक्षको,—मास्टर जैसे अपनी असमर्थताके कारण विद्यार्थीको बेंचपर खडा कर देता है।

उस दिन मास्कोके कृपि-भवनमे मैं अपनी आँखोंसे स्पष्ट देख आया हूं कि दस वर्पके अंदर रूसके किसान भारतके किसानोंको कितना पीछे छोड गये हैं। उन्होंने सिर्फ कितावें पढना ही नहीं सीखा, उनका मन वदल गया है—वे आदमी वन गये है। सिर्फ शिक्षाकी वात कहनेसे उसमे सव वातें नहीं आ जातीं, खेतीकी उन्नतिके लिए देश-भरमें व्याप्त जो वडा-भारी उद्यम है, वह भी असाधारण है। भारतवर्पकी तरह यह देश भी कृपि-प्रधान देश है, इसलिए कृपि-विद्याको जहाँ तक सम्भव हो, आगे विना वढाये देशवासियोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। ये उस वातको भूले नहीं हैं। ये अत्यन्त दु साध्यको साध्य करनेमे लगे हुए हैं।

सिविल-सर्विसके अफसरोंको मोटी-मोटी तनखाहे देकर ये आफिस चलानेका काम नहीं कर रहे है, जो योग्य हैं, जो वैज्ञानिक हैं, वे सबके सव काममें जुट गये हैं। इन्हीं दस वर्षोंमे इनके कृपिचर्चा-विभागकी जैसी उन्नति हुई है, उसकी ख्याति ससार-भरके वैज्ञानिकोंमें फैल चुकी है। युद्धके पहले इस देशमे वीज छाँटनेकी कोई कोशिश ही नहीं की जाती थी। आज लगभग तीन करोड मन छँटे हुए वीज इनके हाथमे हैं। इसके सिवा, नये अनाजोंका प्रचलन सिर्फ इनके कृपि-कालेजके आँगनमें ही सीमित नहीं, वल्कि वडी तेजीके साथ सारे देशमें उनका प्रचार किया जा रहा है। कृपि-सम्वन्धी



मास्कोके कला-भवनमें रवीन्द्रनाथका स्वागत

दुर्वल राम थे, भूखे थे, नि सहाय थे, मूक थे। आज देखते-देखते इनके खेतोंमें हजारोंकी संख्यामें हलयन्त्र काम कर रहे हैं। पहले ये लोग थे बेचारे—गरीव, आज ये हैं वलराम।

केवल यंत्रोंसे ही काम नहीं चल सकता, यंत्री (सचालक) यदि मनुष्य न हुए। इनके खेतकी कृषि मनकी कृषिके साथ-ही साथ बढ़ती जा रही है। यहा शिक्षाका काम और उसकी पद्धति सजीव है। मैं वरावर कहता आया हू कि शिक्षाको जीवन-यात्राके साथ-ही साथ चलाना चाहिए। उससे अलग कर लेनेसे वह भडारकी चीज बनी रहती है, खाकर पेट भरनेकी चीज नहीं बनती।

यहां आकर देखा कि इन लोगोंने शिक्षामें प्राण भर दिये हैं। इसका कारण यह है कि इन्होंने घर-गिरस्तीकी सीमासे स्कूलकी सीमाको अलग नहीं रखा है। ये जो-कुछ सिखाते हैं, वह पास करने या पडित बनानेके लिए नहीं, वल्कि सर्वतोभावसे मनुष्य बनानेके लिए ही सिखाते हैं। हमारे देशमे विद्यालय हैं—परन्तु विद्यासे बुद्धि वडी होती है, सवादसे शक्ति वडी होती है—पुस्तकोंकी पक्तियोंका वोझ हमपर ऐसा लद जाता है कि फिर हममें मनको ठीक रास्तेपर चलानेकी शक्ति ही नहीं रह जाती। कितनी ही वार कोशिश की है अपने यहाके छात्रोंसे वातचीत करनेकी, पर देखा कि उनके मनमे किसी तरहका जिज्ञासु-भाव ही नहीं है। जाननेकी इच्छाके साथ जाननेका जो योग है, वह योग उनका टूट गया है। उन्होंने कभी जानना सीखा ही नहीं—शुरूसे ही उन्हें पुराने नियमोंके अनुसार शिक्षा दी जाती है, उसके वाद उस सीखी हुई



मास्कोके कला-भवनमें रवीन्द्रनाथका स्वागत

विद्याको दुहराकर वे परीक्षाके मार्क
जाते हैं।

मुझे याद है, जब दक्षिण-अफ्रिकासे ऍ
शान्तिनिकेतन आये थे, तब एक दिन उनमें
"हमारे छात्रोंके साथ पारुल-वन देखने
उसने कहा—"मालूम नहीं।" इस बारेमें
पूछना चाहा। मैंने कहा—"पूछना पीछे,
तुम्हारी जानेकी इच्छा है या नहीं?"
जानता।" कहनेका मतलब यह कि वह छ
कुछ इच्छा नहीं रखता—उसे चलाया जा
अपने आप वह कुछ सोचता ही नहीं।

इस तरहके मामूली विषयोंमें मनकी
साधारत हमारे छात्रोंमें नहीं पाई जाती, कि
और भी जरा कठिन और विचारणीय विष
उसके लिए इनका मन जरा भी तैयार न
बातकी बाट देखा करते हैं कि हम उनके अ
है, उसीको सुनें। ससारमें ऐसे निश्चेष्ट
मन और क्या हो सकता है।

यहां शिक्षा-पद्धतिके सम्बन्धमें अनेक

वही सबसे बढकर कामकी चीज है। उस दिन उसे मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। 'पायोनियर्स कम्यून' नामसे इस देशमे जो आश्रम स्थापित हुए है, उन्हींमे से एकको देखने गया था। हमारे शान्तिनिकेतनमे जैसे व्रतीबालक और व्रतीबालिकाएँ हैं, इनकी पायोनियर्स सस्थाएँ लगभग उसी ढगकी हैं।

मकानमें प्रवेश करते ही देखा कि मेरे स्वागतके लिए द्वारकी सीढियोंपर दोनो किनारे बालक-बालिकाएँ पक्तिवार खडे हैं। भीतर घुसते ही वे मेरे चारो ओर सटकर बैठ गये, जैसे मै उनका अपना ही कोई हू। एक बात याद रखना, ये सभी बिना माता-पिताके अनाथ है। ये जिस श्रेणीसे आये है, एक दिन ऐसा था जब कि उस श्रेणीके लोग किसीसे किसी तरहका सम्मानका दावा नहीं कर सकते थे, दरिद्रोंकी तरह बहुत नीच वृत्तिसे अपनी गुजर किया करते थे। इनके मुँहकी ओर निहारकर देखा, तो मालूम हुआ कि ये अनादर और असम्मानके कुहरेसे ढके हुए चेहरे ही नहीं है। न सकोच है, न जडता। इसके सिव मालूम हुआ, मानो सभीके हृदयमे एक प्रकारका प्रण है, सामने एक तरहका कार्यक्षेत्र है, मानो ये हमेशा तैयार-से रहते हैं, किसी तरफसे असावधानी या शिथिलता है ही नहीं।

स्वागतके उत्तरमे मैने भी कुछ कहा। उसीके प्रसंगमे उनमेसे एक लडकेने कहा—"पर-श्रमजीवी (Bourgeoisie) अपना व्यक्तिगत मुनाफा चाहते हैं, पर हम चाहते हैं देशके ऐश्वर्यमे सब आदमियोंका समान स्वत्त्व रहे। इस विद्यालयमे हम लोग उसी नीतिपर चलते हैं।"

एक लड़कीने कहा—"हम अपनेको स्वयं चलाती हैं। हम सब मिलकर सलाह करके काम करती हैं, जो सबके लिए अच्छा है, वही हमारे लिए ठीक है।"

एक दूसरे लड़केने कहा—"हम गल्ती कर सकते हैं, यदि चाहें तो, जो हमसे बड़े हैं, उनकी सलाह लिया करते हैं। जरूरत पड़नेपर छोटे लड़के-लड़कियाँ बड़े लड़के-लड़कियोंसे सलाह लेते हैं, और उन्हें सलाहकी जरूरत हो तो वे शिक्षकोंके पास जाते हैं। हमारे देशके शासनतत्रका यही विधान है। हम यहाँ उसी विधानकी चर्चा और अनुशीलन किया करते हैं।"

इससे समझ सकते हो कि इनकी शिक्षा सिर्फ किताबोंमें ही सीमित नहीं है। अपने व्यवहारको, अपने चरित्रको इन्होंने एक बड़ी लोकयात्राके अनुकूल बना डाला है। वह विषय इनका एक प्रण बन गया है, और उस प्रणकी रक्षा करनेमें ही ये अपना गौरव समझते हैं।

अपने यहाँके लड़के-लड़कियों और शिक्षकोंसे मैंने बहुत बार कहा है कि लोकहित और स्वायत्तशासनके जिस दायित्व-बोधकी आशा हम सम्पूर्ण देशसे रखते हैं, शान्तिनिकेतनकी छोटीसी सीमाके भीतर हम उसीका एक सम्पूर्ण रूप देखना चाहते हैं। वर्तमान व्यवस्था छात्र और शिक्षकोंकी सम्मिलित स्वायत्तशासनकी व्यवस्था होनी चाहिए—उस व्यवस्थासे जब यहाँके समस्त कार्य सुसम्पूर्ण होने लगेंगे, तब उतनी ही सीमामें हमारे सम्पूर्ण देशकी समस्या हल हो सकती है। व्यक्तिगत

इच्छाको सर्वसाधारणके हितके अनुकूल बना डालनेकी चर्चा राष्ट्रीय व्याख्यान-मंचपर खडे होकर नहीं की जा सकती, उसके लिए खेत बनाये जाने चाहिए—वह खेत ही हमारा आश्रम होगा।

एक छोटासा दृष्टान्त तुम्हारे सामने रखता हू। खाने-पीनेकी रुचि और अभ्यासके सम्बन्धमे बंगालमे जैसा कदाचार है, वैसा और कहीं भी नहीं। पाकशाला और पाकयन्त्रको हमने बहुत ही भारग्रस्त बना डाला है। इस विषयमें सस्कार या सुधार करना बडा कठिन है। अपने समाजके चिरन्तन हितके प्रति लक्ष्य रखकर हमारे छात्र और शिक्षक यदि पथ्यके विषयमें अपनी रुचिको यथोचित रूपसे नियंत्रित करनेका प्रण कर सकते, तो मैं जिसे शिक्षा कहता हू, वह शिक्षा सार्थक हो सकती। सात-तिया-इक्कीस कठस्थ करनेको हम शिक्षा ही समझते हैं, और इस बातपर लक्ष्य न रखनेको कि इस विषयमे भूल न करें, हम बडा-भारी अपराध समझते हैं, परन्तु वास्तवमे देखा जाय तो जिस चीजको पेटमें भरते हैं, उस विषयकी शिक्षाकी कम कीमत समझना मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं। अपने दैनिक भोजनके सम्बन्धमे देशके सामने हमारा एक दायित्व है और वह बहुत बडा दायित्व है—अन्य समस्त उपलब्धियोके साथ-साथ इसकी याद रखना इम्तिहानके मार्कसे कहीं बडा है।

मैंने उनसे पूछा—"कोई कुछ अपराध करे, तो उसके लिए क्या विधान है?"

एक लडकीने कहा—"हमारे यहा किसी तरहका शासन नहीं है, क्योंकि हम अपनी सजा आप ही लिया करते हैं।"

मेने कहा—"और जरा विस्तारसे कहो। अगर कोई अपराध करे, तो क्या तुम लोग उसके लिए कोई खास सभा करते हो ? या अपनेमे से किसीको पच चुन लेते हो ? और सजा देनेके नियम है, तो कैसे हैं ?"

एक लडकीने जवाब दिया—"उसे विचार-सभा नहीं कहा जा सकता, हम लोग आपसमे बातचीत करते है। किसीको अपराधी सिद्ध कर देना ही सजा है, इससे बढकर और सजा क्या होगी।"

एक लडकेने कहा—"वह भी दु खित होता है, हम भी दु खित होते है, बस झगडा तय हुआ।"

मेने कहा—"मान लो, कोई लडका अगर सोचे कि उसपर झूठा दोषारोप हो रहा है, तो तुम लोगोंके ऊपर और भी कहीं वह अपील कर सकता है ?"

लडकेने कहा—"तब हम लोग वोट लेते हैं—अधिक मतसे अगर निणय हो कि वह अपराधी है, तो उसपर फिर अपील नहीं चल सकती।"

मने कहा—"अपील न चले, यह दूसरी बात है, पर फिर भी अगर वह समझे कि अधिक मतोंने उसके प्रति अन्याय किया है, तो उसका कोई प्रतिकार हो सकता है या नहीं ?"

एक लडकीने उठकर कहा—"तब सम्भव है हम लोग अपने

शिक्षकोंके पास जायँ और इस विषयमे उनकी सलाह लें—पर ऐसी घटना कभी हुई नहीं।"

मैंने कहा—"जिस तपस्यामे सभी कोई शामिल हैं, वह स्वय ही अपराधोंसे तुम्हारी रक्षा करेगी।"

यह पूछनेपर कि तुम्हारा कर्तव्य क्या है, उन्होंने कहा—"अन्य देशके लोग अपने कामके लिए धन चाहते हैं, सम्मान चाहते हैं, हम वैसा कुछ भी नहीं चाहते, हम सर्वसाधारणका हित चाहते हैं। हम गाँववालोको शिक्षा देनेके लिए देहातोंमे जाते हैं, और उन्हें समझाते है कि किस तरह सफाईसे रहा जाता है, सब काम बुद्धिपूर्वक किस तरह सरलतासे किये जाते हैं, इत्यादि। अनेक अवसर ऐसे आते है, जब हमें स्वय वहाँ रहना पडता है, इसके लिए हम नाटक खेलते हैं और देशकी हालत उन्हें समझाते है।"

उसके बाद उन लोगोंने मुझे दिखाना चाहा कि वे सजीव समाचार-पत्र किसे कहते है। एक लडकीने कहा—"देशके सम्बन्धमें हमे बहुतसे समाचार जानने पडते हैं, हमे जो मालूम हो जाते हैं, उन्हे दूसरोंको जता देना हमारा कर्तव्य है। क्योंकि तथ्यको ठीक तौरसे जानने और उस विषयमें विचार करनेसे ही हमारा कार्य ठोस हो सकता है।"

एक लडकेने कहा—"पहले हम किताबोंसे और शिक्षकोंसे सीखते हैं, फिर उसी विषयपर आपसमे आलोचना करते हैं, उसके बाद हमें सर्वसाधारणको समझाने जानेकी आज्ञा मिलती है।"

सजीव समाचारपत्रका अभिनय करके मुझे दिखाया गया। विषय था 'रूसका पचवार्षिक सङ्कल्प'। अर्थात् इन लोगोंने दृढ़ प्रण किया है कि पाँच वर्षके अदर ये सारे देशको यन्त्रशक्तिमे सुदक्ष कर डालेंगे, बिजली और भापकी शक्तिको ये देशके इस छोरसे उस छोर तक सर्वत्र काममे लायेंगे। 'इनका देश' से यह मतलब नहीं कि सिर्फ यूरोप और रूस, बल्कि एशियाके बहुत दूर तक उसका विस्तार है। वहाँ भी ये अपनी शक्तिके वाहनको ले जायँगे। धनीको अधिकतर धनी बनानेके लिए नहीं, बल्कि जन-समाजको शक्तिसम्पन्न करनेके लिए—उस जन-समाजमे मध्य-एशियाके काले-चमडेके मनुष्य भी शामिल हे। वे भी शक्तिके अधिकारी होंगे, इसके लिए कोई डर नहीं, चिन्ता नहीं।

इस कामके लिए इन्हे बहुत ज्यादा रुपयोंकी जरूरत है—यूरोपीय बडे-बाजारोंमे इनकी हुडी नहीं चलती—नक़द दाम देकर सौदा लेनेके सिवा और कोई चारा ही नहीं। इसीलिए मुँहका कौर देकर ये जरूरी चीजें खरीदते हैं, यहाँका पैदा हुआ अनाज, पशु-मास, अडे, मक्खन—सब-कुछ विदेशके बाजारोमें बिकने जाता है। देश-भरके लोग उपवासके किनारे तक आ पहुचे हैं,—अब भी डेढ वर्ष बाकी है। दूसरे देशोंके महाजन इनसे खुश नहीं हैं। विदेशी इंजिनीयरोंने इनके बहुतसे कल-कारखाने नष्ट भी कर दिये हैं। यहाँका काम बहुत-बडा और जटिल है, समय बहुत थोडा है। समय बढानेका साहस नहीं होता,

क्योंकि ये समस्त धनी-समाजकी प्रतिकूलताके सामने खड़े हैं, जितनी जल्दी हो सके, अपने बूतेपर धन कमाना इनके लिए बहुत ही जरूरी है। तीन वर्ष बीत चुके, अब भी दो वर्ष बाकी हैं।

सजीव अखबार अभिनयके समान है,—नृत्य-गीत और झंडा उड़ाकर ये जता देना चाहते हैं कि देशकी धन-शक्तिको यन्त्रवाहिनी करके धीरे-धीरे इन्होने कितनी सफलता पाई है। देखनेकी जरूरत बहुत ज्यादा है। जो जीवनयात्राके अत्यन्त आवश्यक सामग्रियोंसे वंचित रहकर कष्टसे दिन बिता रहे हैं, उन्हे समझानेकी जरूरत है कि शीघ्र ही इस कष्टका अन्त होगा, और उसके बदले जो कुछ मिलेगा, उसका स्मरण करके उन्हें आनन्दके साथ, गौरवके साथ कष्टोंको गले लगाना चाहिए।

इसमे सन्तोषकी बात यह है कि इस कार्यमे कोई दल-विशेष नहीं, बल्कि सभी लोग एक साथ तपस्यामे लगे हुए हैं। ये सजीव सवादपत्र अन्य देशोंके समाचार भी इसी ढगसे देश-भरमे फैलाया करते हैं। पतिशरमे * देहतत्त्व और मुक्तितत्त्वपर एक नाटक देखा था, उसकी याद उठ आई—ढग एक ही है, लक्ष्य भिन्न है। सोच रहा हू, देश लौटकर शान्तिनिकेतन और सुरूल (श्रीनिकेतन) मे इसी तरहके सजीव सवादपत्र चलानेकी कोशिश करूँगा।

---

* बगालका एक स्थान, जहा कविकी जमींदारी है।

इनका दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार है—सवेरे सात बजे उठते हैं, उसके बाद पन्द्रह मिनट व्यायाम करते है, फिर नित्यक्रिया और कलेवा। आठ बजेसे क्लास बैठती है। एक बजे थोडी देरके लिए खाने और विश्राम करनेकी छुट्टी होती है। तीन बजे तक क्लास होती रहती है। सीखनेके विषय हैं—इतिहास, भूगोल, गणित, प्राथमिक प्राकृत-विज्ञान, प्राथमिक रसायन, प्राथमिक जीव-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान, राष्ट्र-विज्ञान, समाज-विज्ञान, साहित्य, हाथकी कारीगरी, बढईका काम, जिल्दसाजीका काम, नये ढगकी खेतीकी मशीन आदिका व्यवहार, इत्यादि। रविवार नहीं है। हर पाँचवें दिन छुट्टी रहती है। तीन बजे बाद खास दिनकी कार्य-सूचीके अनुसार पायोनियर लोग (अग्रगामियाका दल) कारखाने, अस्पताल, गाँव आदि देखने जाया करते हैं।

देहातोंमें भ्रमण करानेकी व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी ये स्वय अभिनय करते हैं और कभी-कभी थियेटर देखने भी जाते है। शामका कायक्रम है—कहानियाँ पढना, कहानियाँ सुनाना, तर्क करना, साहित्यिक और वैज्ञानिक सभाएं करना। छुट्टीके दिन पायोनियर लोग अपने कपडे धोते है, घर साफ करते है, मकान और मकानके चारों तरफ सफाई करते हैं, क्लासके पाठके अलावा अतिरिक्त पाठ पढते है, घूमने जाते हैं। विद्यालयमे भरती होनेकी उमर है सात-आठ साल और विद्यालय छोडनेकी उमर सोलह। इनका अध्ययन-काल हमारे देशकी

तरह लम्बी-लम्बी छुट्टियोंसे पोला नहीं किया गया, इसलिए थोड़े ही दिनोंमें ये बहुत ज्यादा पढ सकते है।

यहाके विद्यालयोंका एक बडा-भारी गुण यह है कि ये जो कुछ पढते हैं, साथ-साथ उसकी तसवीर भी खींचते जाते है। इससे पाठका विषय मनपर चित्रित हो जाता है, चित्राकनमे हाथ सध जाता है—और पढनेके साथ रूप-चित्रणका आनन्द भी मिल जाता है। यकायक ऐसा मालूम होने लगता है कि इन लोगोंका ध्यान सिर्फ कामकी ओर ही है, और गंवारोंकी तरह ये ललितकलाकी अवज्ञा करते हैं। परन्तु यह बात बिलकुल नहीं है। सम्राटोंके जमानेमे बने हुए बडे-बडे नाट्य-मन्दिरोंमे उच्च श्रेणीके नाटक और ओपेराओंके अभिनयके दिन देरसे टिकट मिलना मुशकिल हो जाता है। नाट्याभिनय-कलामे इनके समान उस्ताद ससारमें बहुत थोडे ही हैं। प्राचीनकालमें अमीर-उमराव ही इनका आनन्द ले सकते थे—उस जमानेमे जिनके पैरोंमे जूते न थे, कपडे थे फटे-पुराने-मैले, जिन्हे भर-पेट खानेको न मिलता था, अहोरात्र जो मनुष्य और देवता सभीसे डरा करते थे, परित्राणके लिए जो पुरोहित-पडोंको घूस दिया करते थे, और मालिकके पैरों-तले धूलमे सिर रखकर जो अपनी अवज्ञा आप करते थे, आज उन्हींकी भीडसे थियेटरोंमें जगह नहीं मिलती।

मैं जिस दिन अभिनय देखने गया था, उस दिन खेल था टालसटायका 'रिसरैक्शन'। मेरी समझसे यह नाटक सर्वसाधारणके लिए सहज-उपभोग्य नहीं हो सकता। परन्तु श्रोतागण गम्भीर होकर

बडे ध्यानसे चुपचाप सब सुन रहे थे। ऍंग्लो-सैक्सन किसान-मजूर श्रेणीके लोगोंने इस नाटकको रातके एक बजे तक ऐसी दिलचस्पीके साथ शान्तभावसे देखा होगा—यह बात कल्पनामे नहीं आती, हमारे देशकी तो बात ही छोड दो।

और एक उदाहरण देता हू। मास्को शहरमे मेरी तसवीरोंकी प्रदर्शनी हुई थो। यह तो कहना ही न होगा कि मेरी तसवीरें विचित्र और दुनियासे न्यारी ही थीं। सिर्फ विदेशी हों सो नहीं, कहा जा सकता है कि वे किसी भी देशकी नहीं हैं, मगर लोगोंका भीड-भम्भड काफी था। इन थोडेसे दिनोंमे पाच हजार आदमी तसवीर देखने आये थे। और कोई चाहे कुछ कहे, कमसे कम मैं तो इनकी रुचिकी प्रशसा विना किये नहीं रह सकता।

रुचिकी बात छोड दो, मान लो कि वह एक खोखला कौतूहल ही था, परन्तु यह कौतूहल ही तो जाग्रत चित्तका परिचय है। मुझे याद है, एक दिन अपने कुएके लिए मैंने अमेरिकासे एक वायुचल-चक्रयन्त्र मगाया था, जिससे कुआकी गहरी नीचाईसे पानी उठ आता था, परन्तु जब देखा कि लडकोंके मनकी गहराईसे जरा भी कौतूहल नहीं उठ रहा, तो मनमे बडा ही धिक्कार आने लगा। हमारे यहाँ भी तो बिजलीके कारखाने हैं, कितने लडके जाते हैं वहा उत्सुकता मिटाने? कहनेको तो वे भद्रश्रेणीके लडके हैं। बुद्धिकी जडता जहा है, वहीं कौतूहल दुर्वल है।

यहा स्कूलके लडकोंकी बनाई हुई तसवीरें हमे बहुतसी मिलीं

हैं—देखकर आश्चर्य होता है—बेशक वे चित्र हैं, किसीकी नक
नहीं, उनकी अपनी उपज हैं। यहाँ निर्माण और सृष्टि दोनों
तरफ लक्ष्य देखकर बहुत सन्तुष्ट और निश्चिन्त हुआ हू। जबसे य
आया हू, अपने देशकी शिक्षाके बारेमें मुझे बहुत सोच
पडा है। अपनी नि:सहाय सामान्य शक्तिसे इसमे से कुछ ले
और प्रयोग करनेकी कोशिश करूँगा। पर अब समय कहा है—
सम्भव है, मेरे लिए पचवार्षिक सकल्प भी पूरा न हो। लगभग ती
वर्षसे जैसे अकेला ही प्रतिकूलताके विरुद्ध लग्घोसे नाव ठेलता र
हू—और भी दो-चार वर्ष उसी तरह ठेलना पडे, पर बहुत आगे
बढ सकूँगा, मैं जानता हू—फिर भी किसीसे फरियाद न करूँगा
आज अब समय नहीं रहा। आज ही रातकी गाडीसे जहाज
घाटकी ओर रवाना होना है, कल समुद्रसे पार होऊँगा।

२ अक्टोबर, १९३०

७

*ब्रेमेन स्टीमर*

अतलान्तिक

रूससे लौटकर आज फिर जा रहा हू अमेरिकाके घाटपर।

किन्तु रूसकी स्मृति आज भी मेरे सम्पूर्ण मनपर अधिकार किये हुए है। उसका प्रधान कारण यह है कि और-और जिन देशोमे घूमा हू, वहाँके समाजने समग्ररूपसे मेरे मनको

हिलाया नहीं है। उनमें अनेक कार्योंका उद्यम है, पर अपनी-अपनी सीमाके भीतर। कहीं पालिटिक्स है तो कहीं अस्पताल, कहीं विश्वविद्यालय है तो कहीं म्यूजियम—विशेषज्ञ अपने-अपने क्षेत्रमें ही मशगूल हैं, मगर यहाँ सारा देश एक ही अभिप्रायको लेकर समस्त कार्य-विभागोंको एक ही स्नायुजालमें बाँधकर एक विराट रूप धारण किये हुए है। सब कुछ एक अखड तपस्यामें आकर मिल गया है।

जिन देशोंमें अर्थ और शक्तिका अध्यवसाय व्यक्तिगत स्वार्थोंमें बँटा हुआ है, वहाँ इस तरहकी गहरी हार्दिक एकता असम्भव है। जब यहाँ पच-वर्ष-व्यापी यूरोपीय महायुद्ध चल रहा था, तब झख मारकर देशकी अधिकाश भावनाए और कार्य एक अभिप्रायसे मिलकर एक हृदयके अधिकारमें आये थे, पर वह था अस्थायी—किन्तु सोवियट रूसमें जो कार्य हो रहा है, उसकी प्रकृति ही वही है,—ये तो सर्वसाधारणका काम, सर्वसाधारणका हृदय और सवसाधारणका स्वत्व नामकी एक असाधारण सत्ता कायम करनेमें लगे हुए हैं।

उपनिषद्की एक बात मैंने यहाँ आकर बिल्कुल स्पष्ट समझी है—'म गृध'—लोभ न करो। क्यों लोभ न करें? इसलिए कि सब-कुछ एक सत्यके द्वारा ही परिव्याप्त है—और व्यक्तिगत लोभ उस एककी उपलब्धिमें बाधा पहुचाता है। 'तेन त्यक्तेन भुजीथा'—उस एकसे जो आता है, उसीका भोग करो। आर्थिक दृष्टिकोणसे ये यही बात कहते हैं। समस्त मानव-

भी खोज की जाती है। इन सब केन्द्रोंके साथ जो म्यूज़ियमें हैं, उन्हींके जरिये सर्वसाधारणमें शिक्षा-प्रचारका कार्य होता है और यह बड़ा-भारी काम है। सोवियट राष्ट्रमे सर्वसाधारणकी ज्ञानोन्नतिका जो नवयुग आया है, स्थानिक तथ्यानुसधानकी व्यापक चर्चा और उससे सम्बन्ध रखनेवाली म्यूजियमें उसकी एक मुख्य प्रणाली हैं।

इस तरहका निकटवर्ती स्थानोंका तथ्यानुसधान शान्तिनिकेतनमें कालीमोहनने कुछ-कुछ किया है—पर उस कार्यमे हमारे छात्र और शिक्षकोंके शामिल न होनेसे उससे कोई उपकार नहीं हुआ। अनुसन्धानके फल पानेकी अपेक्षा अनुसधान करनेका मन तैयार करना कुछ कम बात नहीं है। मैंने सुना था कि कालेज-विभागके इकोनॉमिक क्लासके विद्यार्थियोंके साथ प्रभातने इस प्रकारकी चर्चाकी नींव डाली है, परन्तु यह काम और भी अधिक साधारण रूपमे होना चाहिए, पाठ-भवनके लड़कोंको भी इस कार्यमें दीक्षित करना होगा, और साथ ही समस्त प्रादेशिक सामग्रियोंकी म्यूजियम स्थापित करनेकी भी आवश्यकता है।

यहाँ तसवीरोंकी म्यूज़ियमका काम कैसे चलाया जाता है, उसका विवरण सुननेसे अवश्य ही तुम्हें सन्तोष होगा। मास्को शहरमें ट्रेटियाकोव गैलरी ( Tretyakov Gallery ) नामक एक प्रसिद्ध चित्र-भंडार है। वहाँ १९२८ से १९२९ तक एक वर्षके अन्दर लगभग तीन लाख आदमी चित्र देखने आये हैं। इतने दर्शक आना चाहते हैं कि उनके लिए स्थान



मास्कोके कृषि भवनमें रवीन्द्रनाथ

देना कठिन हो रहा है, इसलिए दर्शकोंको पहले ही से छुट्टीके दिन अपना नाम रजिस्टरमें लिखा देना पड़ता है।

सन १९१७ में, सोवियट-शासन चालू होनेसे पहले जो दर्शक इस तरहकी गैलरीमें आते थे, वे थे धनी-मानी-ज्ञानी दलके लोग—जिनको ये bourgeoisie कहते हैं—अर्थात् पर-श्रमजीवी। और अब आते हैं असख्य स्वश्रमजीवी—जैसे राजमिस्त्री, लुहार, बढ़ई, दर्जी, मोदी आदि। इनके सिवा और आते हैं सोवियट सैनिक, सेनानायक, विद्यार्थी और किसान आदि।

धीरे-धीरे इनके हृदयमें आर्टका ज्ञान जगाते रहना जरूरी है। इन जैसे अनाड़ियोंके लिए प्रथम दृष्टिमें चित्र-कलाका रहस्य ठीक तौरसे समझ लेना कठिन है। ये घूम-घूमकर दीवालोंपर टँगी हुई तसवीरें देखते फिरते हैं—बुद्धि काम नहीं देती। इसके लिए लगभग सभी म्यूज़ियमोंमें योग्य परिचायक रखे गये हैं, वे उन्हें समझा दिया करते हैं। म्यूज़ियमोंके शिक्षा-विभागमें अथवा ऐसी ही अन्य राष्ट्रीय कार्यशालाओंमें जो वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता हैं, उन्हींमें से परिचायक चुने जाते हैं। जो देखने आते हैं, उनके साथ इनका लेन-देनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। परिचायकोंका यह कर्तव्य होता है कि तसवीरमें जो विषय प्रकट किया है, सिर्फ उसीको देख लेने-मात्रसे तसवीर देखनेका उद्देश पूरा हो गया, दर्शकों द्वारा ऐसी भूल न होने दें।

चित्र-वस्तुका गठन (composition), उसकी वर्ण-कल्पना (colour scheme), उसका अङ्कन, उसका 'स्पेस' (space—अंकित

वस्तुओंका पारस्परिक अंतर ), उसकी उज्ज्वलता (illumination)—चित्रकलाके ये जो मुख्य शिल्प-कौशल ( technique ) हैं, जिनसे कि चित्रोंकी विशेष शैली प्रकट होती है—ये सब विषय अब भी बहुत कम लोगोंको मालूम हैं। इसलिए परिचायकोंमें इन सब विषयोंका अच्छा ज्ञान होना चाहिए, तभी वे दर्शकोंकी उत्सुकता और इच्छाको जगा सकते हैं। एक बात और, म्यूजियममें सिर्फ एक ही चित्र नहीं होता, इसलिए एक चित्रको समझ लेना दर्शकोंका उद्देश नहीं होना चाहिए, म्यूजियममें जो विशेष श्रेणीके चित्र रहते हैं, उनकी श्रेणीगत रीतिका समझना आवश्यक है। परिचायकोंका कर्तव्य है कि किसी विशेष श्रेणीके कुछ चित्र छाँटकर दर्शकोंको उनकी प्रकृति समझा दें। आलोच्य चित्रोंकी संख्या बहुत ज्यादा होनेसे काम नहीं चल सकता, और समय भी बीस मिनटसे ज्यादा लगाना ठीक नहीं। प्रत्येक चित्रकी अपनी एक भाषा होती है—अपना एक छन्द होता है, वही समझनेका विषय है, चित्रके रूपके साथ उसके विषय और भावका क्या सम्बन्ध है, इसकी व्याख्या करना आवश्यक है। चित्रोंकी पारस्परिक विपरीतताके द्वारा उनकी विशेषता समझा देना अकसर बहुत काम कर जाता है। परन्तु, यदि दर्शकका मन ज़रा भी कहीं थक जाय, तो वहीं उसे छुट्टी दे देनी चाहिए।

अशिक्षित दर्शकोंको ये किस तरह तसवीर देखना सिखाते हैं, उन्हींकी रिपोर्टसे उपर्युक्त बातें संग्रह करके तुम्हें लिख रहा हूं। इनमेंसे भारतीयोंको जिस बातपर विचार करना चाहिए, वह यह

है—पहले जो चिट्ठी लिखी है, उसमें मैंने कहा है कि ये लोग कृषिबल और यन्त्रबलसे समस्त देशको जल्दी-से-जल्दी शक्तिमान बनानेके लिए बड़े उद्यमके साथ कमर कसकर जुट पड़े हैं। यह बड़े ही कामकी बात है। अन्य समस्त धनी देशोंके साथ प्रतियोगिता करते हुए अपने बलपर जीवित रहनेके लिए ही इनकी यह कठोर तपस्या है।

हमारे देशमें जब इस प्रकारकी देशव्यापी राष्ट्रीय तपस्याका जिक्र आता है, तब हम यही कहना शुरू कर देते हैं कि बस सिर्फ एक लाल मशाल जलाकर देशके अन्य समस्त विभागोंके सब दीपकोंको बुझा देना चाहिए, नहीं तो मनुष्य अन्यमनस्क हो जायँगे। खासकर ललितकला और-सब तरहके कठोर संकल्पोंकी विरोधिनी है। अपनी जातिको पहलवान बनानेके लिए सिर्फ ताल ठुकवाकर उसे पैंतरेबाजी सिखानी चाहिए, सरस्वतीकी वीणासे अगर लाठीका काम लिया जा सके, तभी वह चल सकती है, अन्यथा नैव नैव च। इन बातोंसे कितना नकली पौरुष प्रकट होता है, यहाँ आनेसे स्पष्ट समझा जा सकता है। यहाँवाले देश-भरमें कल-कारखाने चलानेमें जिन मजदूरोंको पक्का कर देना चाहते हैं, वे ही मजदूर जिससे अपनी शिक्षित बुद्धिसे तमन्नीरोंका रस ग्रहण कर सकें, इसीके लिए इतना विराट आयोजन हो रहा है। ये लोग जानते हैं कि जो रसज्ञ नहीं है, वे बर्बर हैं, और जो बर्बर हैं, वे बाहरसे रूखे और भीतरसे कमजोर होते हैं। रूसकी नवीन नाट्यकलाने असाधारण उन्नति की है। १९१७ की क्रान्तिके

साथ-साथ ये लोग भी घोरतर दुर्दिन और दुर्भिक्षके समय नाचते रहे हैं, गाते रहे हैं, नाट्याभिनय करते रहे हैं—इनके ऐतिहासिक विराट नाट्याभिनयके साथ उसका कहीं भी विरोध नहीं हुआ है।

मरुभूमिमे शक्ति नहीं होती। शक्तिका यथार्थ रूप वहीं देखनेमे आता है, जहा पत्थरकी छातीमे से जलकी धारा कल्लोलित होकर निकलती है, जहां वसन्तके रूप-हिल्लोलसे हिमालयका गाम्भीर्य मनोहर हो उठता है। विक्रमादित्यने भारतवर्षसे शक शत्रुओको भगा दिया था, किन्तु कालिदासको 'मेघदूत' लिखनेके लिए मना नहीं किया। यह नहीं कहा जा सकता कि जापानी लोग तलवार नहीं चला सकते, किन्तु साथ ही वे समान निपुणताके साथ तूलिका भी चलाते हैं। रूसमें आकर अगर देखता कि ये केवल मजदूर बनकर कारखानोके लिए सामान ही पैदा करते हैं और हल जोतते हैं, तो समझता कि ये भूखो मरेंगे। जो वृक्ष पत्तोंकी मर्मरध्वनि बन्द करके खट-खट आवाजसे अहंकार करता हुआ कहता रहे कि मुझे रसकी जरूरत नहीं, वह जरूर बढ़ईके घरका नकली वृक्ष है—वह अत्यन्त कठोर हो सकता है, पर है अत्यन्त निष्फल ही। अतएव मे वीरपुरुषोंसे कहे देता हू और तपस्वियोंको सावधान किये देता हू कि जब मैं अपने देशको लौटूगा, तब पुलिसकी लाठियोकी मूसलधार वर्षामे भी अपना नाच-गान बन्द न करूगा।

रूसके नाट्यमचपर कलाकी तपस्याका जो विकास हुआ है, वह असाधारण है—महान है। उसमे नवीन सृष्टिका साहस

उत्तरोत्तर बढ़ना ही दिखाई देता है, उसकी गति अभी रुकी नहीं है। वहाकी सामाजिक क्रान्तिमे यह नई सृष्टि ही असीम साहससे काम कर रही है। ये लोग समाजमें, राष्ट्रमें, कला-तत्त्वमे—कहीं भी नवीनतासे डरे नहीं है।

जिस पुराने धर्मतन्त्रने और जिस पुराने राज्यतन्त्रने शताब्दियोंसे इनकी बुद्धिको प्रभावित कर रखा है और प्राणशक्तिको नि शेषप्राय कर दिया है, इन सोवियट-क्रान्तिकारियोने उन दोनों ही को निर्मूल कर दिया है, इतनी बडी बन्धन-जर्जरित पराधीन जातिको इतने थोडे समयके अदर इतनी बडी मुक्ति दी है कि उसे देखकर हृदय आनन्दसे भर जाता है। क्योंकि जो धर्म मानवजातिको मूढताका वाहन बनाकर मनुष्यके चित्तकी स्वाधीनताको नष्ट करता है, उससे बढकर हमारा शत्रु कोई राजा भी नहीं हो सकता—फिर वह राजा बाहरसे प्रजाकी स्वाधीनताको कितना ही क्यों न बेडियोंसे बांधता हो। आज तक यही देखनेमे आया है कि जिस राजाने प्रजाको दास बनाये रखना चाहा है, उस राजाका सबसे बडा सहायक बना है वही धर्म, जो मनुष्यको अन्धा बनाये रखता है। वह धर्म विष-कन्याके समान है, आलिंगनसे वह मुग्ध कर लेता है, और मुग्ध करके मार डालता है। शक्तिशूलकी अपेक्षा भक्तिशूल और भी गहरे मर्ममें जाकर प्रवेश करता है, क्योंकि उसकी मार आरामकी मार होती है।

सोवियटोंने रूस-सम्राट द्वारा किये गये अपमान और आत्मकृत अपमानके हाथसे इस देशको बचाया है—अन्य देशोंके धार्मिक चाहे उनकी कितनी ही निन्दा करें, पर मैं निन्दा नहीं कर

जापानने इस शिक्षाके द्वारा ही थोडे समयके अंदर देशकी राष्ट्रशक्तिको सर्वसाधारणकी इच्छा और उद्यमके साथ मिला दिया है, देशकी अर्थोपार्जनकी शक्तिको बहुत गुना बढा दिया है। वर्तमान टर्कीने तेजीके साथ इसी शिक्षाको बढाकर धर्मान्धताके भारी बोझसे देशको मुक्त करनेका मार्ग दिखाया है। "भारत सिर्फ सोता ही रहता है।" क्योंकि उसने अपने घरमें प्रकाश नहीं आने दिया, जिस प्रकाशसे आजका संसार जागता है, शिक्षाका वह प्रकाश भारतके बंद दरवाजेके बाहर ही खडा है।

जब रूसके लिए रवाना हुआ था, तब बहुत ज्यादाकी आशा नहीं की थी। क्योंकि कितना साध्य है और कितना असाध्य, इसका आदर्श मुझे ब्रिटिश-भारतसे ही मिला है। भारतकी उन्नतिकी दुरूहता कितनी अधिक है, इस बातको स्वयं ईसाई पादरी टमसनने बहुत ही करुण स्वरमें सारे संसारके सामने कहा है। मुझे भी मानना पडा है कि दुरूहता है अवश्य, नहीं तो हमारी ऐसी दशा क्यों होती? यह बात मुझे मालूम थी कि रूसमें प्रजाकी उन्नति भारतसे ज्यादा ही दुरूह थी, कम नहीं। पहली बात तो यह है कि हमारे देशमें भद्रेतर श्रेणीके लोगोंकी जैसी दशा अब है, यहाकी भद्रेतर श्रेणीकी भी—क्या बाहरसे और भीतरसे—वैसी ही दशा थी। उसी तरह ये लोग भी निरक्षर और निरुपाय थे, पूजा-अर्चना और पुरोहित-पडोंके दिन-रातके तकाजोंके मारे इनकी भी बुद्धि बिलकुल दबी हुई

थी, ऊपरवालोंके पैरोंकी धूलसे इनका भी आत्म-सम्मान मलिन था, आधुनिक वैज्ञानिक युगकी सुविधाएं इन्हें भी कुछ नहीं मिली थीं, इनके भाग्यपर भी पुरलोक ज़मानेका भूत सवार था, उस भूतने इन्हें हजारों वर्षके पुराने अचल खूंटसे बांध रखा था, बीच-बीचमें यहूदी पड़ोसियोंके लिए जब उनपर खून सवार हो जाता था, तब इनकी भी पाशविक निष्ठुरताका अन्त नहीं रहता था। ये ऊपरवालोंके हाथसे चाबुक खानेमें जितने मजबूत थे, अपने समान श्रेणीवालोंपर अन्याय-अत्याचार करनेमें भी उतने ही मुस्तैद रहते थे।

यह तो उनकी दशा थी।—आजकल जिनके हाथमें उनका भाग्य है, अंगरेज़ोंकी तरह वे ऐश्वर्यशाली नहीं हैं, अभी तो कुल १९१७ के बादसे अपने देशमें उनका अधिकार आरम्भ हुआ है—राष्ट्र-व्यवस्था सब तरफसे पक्की होने-योग्य समय और साधन उन्हें मिली ही नहीं—घर और बाहर सर्वत्र विरोध है—उनमें आपसी गृह-कलहका समर्थन करनेके लिए अंगरेजों—और यहां तक कि अमेरिकनोंने भी—गुप्त और प्रकट रूपमें कोशिश की है। जनसाधारणको समर्थ और शिक्षित बना डालनेके लिए उन लोगोंने जो प्रतिज्ञा की है, उसकी 'डिफिकल्टी' (कठिनाई) भारत-शासकोंकी डिफिकल्टीसे कई गुनी बड़ी है।

इसलिए, मेरे लिए ऐसी आशा करना कि रूस जाकर बहुत-कुछ देखनेको मिलेगा, अनुचित होता। हमने अभी देखा ही क्या है और जाना ही कितना है, जिससे हमारी आशाका

जोर ज्यादा हो सकता। अपने दु:खी देशमें पली हुई बहुत कमजोर आशा लेकर रूस गया था। वहाँ जाकर जो कुछ देखा, उससे आश्चर्यमें डूब गया। Law and Order ( शान्ति और व्यवस्था ) की कहा तक रक्षा की जाती है, कहा तक नहीं—इस बातकी जाँच करनेका मुझे समय नहीं मिला, सुना जाता है कि काफी जबरदस्ती होती है, बिना विचारके शीघ्रतासे दड भी दिया जाता है। और-सब विषयोंमें स्वाधीनता है, पर अधिकारियोंके विधानके विरुद्ध बिलकुल नहीं। यह तो हुई चन्द्रमाके कलककी दिशा, परन्तु मेरा तो मुख्य लक्ष्य था प्रकाशकी दिशापर। उस दिशामें जो दीप्ति देखी, वह आश्चर्यजनक थी—जो एकदम अचल थे, वे सचल हो उठे हैं।

सुना जाता है कि यूरोपके किसी-किसी तीर्थ-स्थानसे दैवकी कृपासे चिरपगु भी अपनी लाठी छोडकर पैदल वापस आये हैं—यहा भी वही हुआ, देखते-देखते ये पगुकी लाठीको दौडनेवाला रथ बनाते चले जा रहे हैं—जो पयादोंसे भी गये-बीते थे, दस ही वर्षमें वे रथी बन गये है। मानव-समाजमें वे सिर ऊँचा किये खडे हैं, उनकी बुद्धि अपने वश है, उनके हाथ-हथियार सब अपने वशमें हैं।

हमारे सम्राट-वंशके ईसाई पादरियोंने भारतवर्षमें बहुत वर्ष बिता दिये हैं, डिफिकल्टीज़ कैसी अचल है, इस बातको वे समझ गये है। एक बार उन्हें मास्को आना चाहिए। पर आनेसे विशेष लाभ नहीं होगा—क्योंकि खास तौरसे कलक देखना ही

उनका व्यवसायगत अभ्यास है, प्रकाशपर उनकी दृष्टि नहीं पड़ती,—खासकर उनपर तो और भी नहीं पड़ती, जिनसे उन्हें विरक्ति है। वे भूल जाते हैं कि उनके शासन-चन्द्रमे भी कलंक ढूँढनेके लिए बड़े चश्मेकी जरूरत नहीं पड़ती।

लगभग सत्तर वर्षकी उमर हुई—अब तक मेरा धैर्य नहीं गया। अपने देशकी मूढ़ताके बहुत भारी बोझकी ओर देखकर मैंने अपने ही भाग्यको अधिकतासे दोष दिया है, बहुत ही कम शक्तिके बूतेपर थोड़े-बहुत प्रतिकारकी भी कोशिश की है, परन्तु जीर्ण आशाका रथ जितने कोस चला है, उससे कहीं अधिक बार उसकी रस्सी टूटी है, पहिये टूट हैं। देशके अभागोंके दुःखकी ओर देखकर सारे अभिमानको तिलाजलि दे चुका हूं। सरकारसे सहायता मांगी है, उसने वाहवाही भी दी है, जितनी भीख दी, उससे ईमान गया, पर पेट नहीं भरा। सबसे बढ़कर दुःख और शर्मकी बात यह है कि उनके प्रसादसे पलनेवाले हमारे स्वदेशी जीवोंने ही उसमे सबसे ज्यादा रोड़े अटकाये हैं। जो देश दूसरोंके शासनपर चलता है, उस देशमे सबसे भयानक व्याधि हैं ये ही लोग,—जहाँपर अपने ही देशके लोगोंके मनमें ईर्षा, क्षुद्रता और स्वदेश-विरुद्धताकी कालिमा उत्पन्न हो जाय, उस देशके लिए उससे भयानक विष और क्या हो सकता है?

बाहरके सब कामोंके ऊपर भी एक चीज होती है, वह है आत्माकी साधना। राष्ट्रीय और आर्थिक अनेक तरहकी गड़बड़ियोमे जब मन गँदला हो जाता है, तब उसे हम स्पष्ट नहीं देख सकते,

इसीलिए उसका जोर घट जाता है। मेरे अदर वह बला मौजूद है, इसीलिए असली चीजको मैं जकडे रहना चाहता हू। इसके लिए कोई मेरा मजाक उडाता है तो कोई मुझपर गुस्सा होता है,—वे अपने मार्गपर मुझे भी खींच ले जाना चाहते हैं। परन्तु मालूम नहीं, कहासे आया हू मैं इस ससार-तीर्थमे, मेरा मार्ग मेरे तीर्थ-देवताकी वेदीके पास ही है। मेरे जीवन-देवताने मुझे यही मत्र दिया है कि मैं मनुष्य-देवताको स्वीकार करके उसे प्रणाम करता हुआ चलूँ। जब मैं उस देवताका निर्माल्य ललाटपर लगाकर चलता हू, तब सभी जातिके लोग मुझे बुलाकर आसन देते है—मेरी बात मन लगाकर सुनते है। जब मै भारतीयत्वका जामा पहनकर खडा होता हू, तो अनेक बाधाए सामने आती है। जब ये लोग मुझे मनुष्य-रूपमे देखते है, तब मुझपर भारतीय रूपमे ही श्रद्धा करते हैं, जब मैं खालिस भारतीय रूपमे दिखाई देना चाहता हू, तब ये लोग मेरा मनुष्य-रूपमे आदर कर नहीं पाते। अपना धर्म पालन करते हुए मेरा चलनेका मार्ग गलत समझनेके द्वारा ऊबडखाबर हो जाता है। मेरी पृथ्वीकी मियाद सकीर्ण होती आ रही है, इसलिए मुझे सत्य बननेकी कोशिश करनी चाहिए, प्रिय बननेकी नहीं।

मेरी यहाँकी खबरें झूठ-सच नाना रूपमे देशमे पहुचा करती है। उस विषयमे हमेशा मुझसे उदासीन नहीं रहा जाता, इसके लिए मै अपनेको धिक्कारता हू। बार-बार ऐसा मालूम होता रहता है कि वाणप्रस्थकी अवस्थामे समाजस्थकी तरह व्यवहार करनेसे विपत्तियोका सामना करना पडता है।

कुछ भी हो, इस देशकी 'एनार्मस डिफिकल्टीज' की ( अन्तर्तम या अत्यन्त भीतरी कठिनाइयोंकी ) बातें किताबोंमें पढ़ी थीं, कानोंसे सुनी थीं, पर आज उन डिफिकल्टीजको ( कठिनाइयोंको ) पार करनेका चेहरा भी आँखोंसे देख लिया। बस।

४ अक्टूबर, १९३०

## ९

'ब्रेमेन' जहाज

हमारे देशमें पालिटिक्सको जो लोग खालिस पहलवानी समझते हैं, उन लोगोंने सब तरहकी ललितकलाओंको पौरुषका विरोधी मान रखा है। इस विषयमें मैं पहले ही लिख चुका हूं। रूसका जार किसी दिन दशाननके समान सम्राट् था, उसके साम्राज्यने पृथ्वीका अधिकाश भाग अजगर सर्पकी तरह निगल लिया था, और पूँछसे ऐंठनसे भी जिसको उसने लपेटा उसके भी हाड़-गोड पीस डाले।

लगभग तेरह वर्ष हुए होंगे, उसी जारके प्रतापके साथ क्रान्तिकारियोंकी लड़ाई ठन गई थी। सम्राट् जब मय अपने खानदानके लुप्त हो चुका, उसके बाद भी उसके अन्य सम्बन्धी लोग दौड़-धूप करने लगे और अन्य साम्राज्य-भोगियोंने अस्त्र और उत्साह देकर उनकी सहायता की। अब समझ सकते

क्रान्तिकारियोंने धर्म-मन्दिरोंकी चहारदीवारीको तोडकर उन्हें सर्वसाधारणकी सम्पत्ति बना दिया है। पूजाकी सामग्रियोंको छोडकर बाकी सब सामान म्यूजियममें इकट्ठे किये जा रहे हैं। इधर जब कि आत्म-विप्लव चल रहा है, चारों ओर टाइफाइडका प्रबल प्रकोप हो रहा है, रेलके मार्ग सब नष्ट कर दिये गये हैं—ऐसे समयमें वैज्ञानिक अन्वेषकगण आसपासके क्षेत्रमें जा-जाकर प्राचीन कालकी शिल्प-सामग्रियोंका उद्धार कर रहे हैं। इतनी पोथियाँ, इतने चित्र, इतने खुदाईके कामके अलभ्य नमूने सग्रह किये हैं कि जिसकी हद नहीं।

यह तो हुआ धनिकोंके मकान और धर्म-मन्दिरोंमें जो कुछ मिला, उसका वर्णन। यहाँके मामूली किसान कारीगरोंकी बनाई हुई शिल्प-सामग्रियाँ, प्राचीन कालमें जिनकी अवज्ञा की जाती थी, उनका मूल्य भी ये समझने लगे हैं, और उधर इनकी दृष्टि है। सिर्फ चित्र ही नहीं, बल्कि लोक-साहित्य और लोक-संगीत आदिका काम भी बड़ी तेजीसे चल रहा है। यह हुआ इनका सग्रह।

इन संग्रहोंके द्वारा लोक-शिक्षाकी व्यवस्था की गई है। इससे पहले ही मैं इस विषयमें तुम्हें लिख चुका हू। इतनी बातें मैं जो तुमको लिख रहा हू, उसका कारण यह है कि अपने देशवासियोंको मैं जता देना चाहता हू कि आजसे केवल दस वर्ष पहले रूसकी साधारण जनता हमारे यहाँकी वर्तमान साधारण जनताके समान ही थी, सोवियट-शासनमें उसी श्रेणीके



सोवियट विद्यार्थियोंमें रवीन्द्रनाथ

लोगोंको शिक्षाके द्वारा आदमी बना देनेका आदर्श कितना ऊँचा है। इसमें विज्ञान, साहित्य, संगीत, चित्रकला—सभी कुछ है, अर्थात् हमारे देशमें भद्र-नामधारियोंके लिए शिक्षाका जैसा कुछ आयोजन है, यहाँकी व्यवस्था उससे कहीं अधिक सम्पूर्ण है।

अखबारोंमें देखा कि फिलहाल हमारे देशमें प्राथमिक शिक्षाका प्रचार करनेके लिए हुक्म जारी किया गया है कि प्रजासे कान पकड़कर शिक्षा-कर वसूल किया जाय, और वसूल करनेका भार दिया गया है जमींदारोंपर। अर्थात् जो वैसे ही अधमरे पड़े हैं, शिक्षाके बहाने उन्हींपर बोझ लाद दिया है।

*शिक्षा-कर जरूर चाहिए, नहीं तो खर्चा कहाँसे चलेगा?* परन्तु देशके हितके लिए जो कर है, उसे सब कोई मिलकर क्यों नहीं देंगे? सिविल-सर्विस है, मिलिटरी-सर्विस है, गवर्नर, वायसराय और उनके सदस्यगण है, उनकी भरी जेबोंमें हाथ क्यों नहीं पड़ता? वे *क्या इन किसानोंकी ही रोजीमें से तनखाह और* पेन्सन लेकर अन्तमें देशमें जाकर उसका भोग नहीं करते? जूट-मिलोंके जो बड़े-बड़े विलायती महाजन सन उपजानेवाले किसानोंके खूनसे मोटा मुनाफा उठाकर देशको रवाना कर दिया करते हैं, उनपर क्या इन मृतप्राय किसानोंकी शिक्षाका जरा भी दायित्व नहीं है? जो मिनिस्टरवर्ग शिक्षा-कानून पास करनेमें भर-पेट उत्साह प्रकट करते हैं, उन्हें क्या अपने उत्साहकी कानीकौड़ी कीमत भी अपनी जेबसे नहीं देना चाहिए?

क्या इसीका नाम है शिक्षासे सहानुभूति? मैं भी तो

एक जमींदार हूं, अपनी प्रजाकी प्राथमिक शिक्षाके लिए कुछ दिया भी करता हूं—और भी दो-तीन गुना अगर देना पड़े, तो देनेको तैयार हूं, परन्तु यह बात उन्हें प्रतिदिन समझा देना जरूरी है कि मैं उनका अपना आदमी हूं, उनकी शिक्षासे मेरा ही हित है, और हम ही उन्हें देते हैं, राज्यके शासनमें ऊपरसे लेकर नीचे तक जिनका हाथ है, उनमेंसे कोई भी एक पैसा अपने पाससे नहीं देता।

सोवियट-रूसके जनसाधारणकी उन्नतिका भार बहुत ही ज्यादा है, उसके लिए आहार-विहारमें लोग कम कष्ट नहीं पा रहे हैं, परन्तु उस कष्टका हिस्सा ऊपरसे लेकर नीचे तक सबने समान रूपसे बाँट लिया है। ऐसे कष्टको कष्ट नहीं कहूंगा, वह तो तपस्या है। प्राथमिक शिक्षाके नामसे सरसों-भर शिक्षाका प्रचलन कर भारत-सरकार इतने दिनों बाद दो सौ वर्षका कलंक धोना चाहती है, और मजा यह कि उसके दाम वे ही देंगे, जो दान देनेमें सबसे ज्यादा असमर्थ हैं, सरकारके लाडले अनेकानेक वाहनोंपर तो आंच तक न आने पायेगी—वे तो सिर्फ गौरव-भोग करनेके लिए हैं।

मैं अपनी आंखोंसे न देखता तो किसी कदर भी विश्वास न करता कि अशिक्षा और अपमानके खदकमेंसे निकालकर सिर्फ दस ही वर्षके अन्दर लाखों आदमियोंको इन्होंने सिर्फ क ख ग घ ही नहीं सिखाया, बल्कि उन्हें मनुष्यत्वसे सम्मानित किया है। केवल अपनी ही जातिके लिए नहीं, दूसरी जातियोंके लिए भी इन्होंने समान उद्योग किया है। फिर भी साम्प्रदायिक धर्मके लोग इन्हें अधार्मिक बताकर इनकी निन्दा किया करते हैं। धर्म क्या सिर्फ पोथियोंके मन्त्रमें है,

देवता क्या केवल मन्दिरकी वेदीपर ही रहते हैं ? मनुष्यको जो सिर्फ धोखा ही देते रहते हैं, देवता क्या उनके कन्धोंपर मौजूद हैं ?

बहुतसी बातें कहनी हैं। इस तरह तथ्य संग्रह करके लिखनेका मुझे अभ्यास नहीं, पर न लिखना अन्याय होगा—इसीसे लिखने बैठा हूं। रूसकी शिक्षा-पद्धतिके बारेमें क्रमश लिखनेका मैंने निश्चय कर लिया है। कितनी ही बार मेरे मनमें आया है कि और कहीं नहीं, रूसमें आकर तुम लगोंको सब देख जाना चाहिए। भारतसे बहुतसे गुप्तचर यहां आते हैं, क्रान्तिकारियोंका भी आना-जाना बना ही रहता है, मगर मैं समझता हूं कि और किसी चीजके लिए नहीं, सिर्फ शिक्षा-सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए यहां आना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है।

खैर, अपनी बातें लिखनेमें मुझे उत्साह नहीं मिलता। आशंका होती है कि कहीं अपनेको आर्टिस्ट समझकर अभिमान न करने लग जाऊँ। परन्तु अब तक जो बाहरसे ख्याति मिली है, वह अन्तर तक नहीं पहुची। बार-बार यही मनमें आता है कि वह ख्याति दैवके गुणसे मिली है, अपने गुणसे नहीं।

इस समय बीच समुद्रमें बह रहा हूं। आगे चलकर तकदीरमें क्या बदा है, मालूम नहीं। शरीर थक गया है, मनमें इच्छाओंका उफान नहीं है। रीते भिक्षापात्रके समान भारी चीज दुनियामें और कुछ भी नहीं, जगन्नाथको उसका अन्तिम अर्घ्य देकर न-जाने कब छुट्टी मिलेगी ?

५ अक्टोबर, १९३०

D "Bremen

विज्ञानकी शिक्षामें पुस्तक पढनेके साथ आँखो से देखने
योग रहना चाहिए, नहीं तो उस शिक्षाका तीन-चौथ
हिस्सा बेकार चला जाता है। सिर्फ विज्ञान ही क्यों, अधिका
शिक्षाओं पर यही बात घटती है। रूसमे विविध विषयो
म्यूज़ियमो-द्वारा उस शिक्षामे सहायता दी जाती है। ये म्यूजिय
सिर्फ बड़े-बड़े शहरो मे ही नहीं, बल्कि हर प्रान्तमें छोटी-छोट
देहातों तकके लोगोंको प्रत्यक्ष ज्ञान कराते हैं।

आँखो से देखकर सीखनेकी दूसरी प्रणाली भ्रमण भी है
तुम्हे तो मालूम ही है कि मैं बहुत दिनो से भ्रमण-विद्यालयके
सकल्पको मनमे लादे आ रहा हू। भारतवर्ष इतना बडा देश
है, सभी विषयोंमें उसका इतना अधिक वैचित्र्य है कि हटरके
गज़ेटियर पढकर सम्पूर्णत उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती।
किसी समय हमारे देशमे पैदल भ्रमण करनेकी प्रथा थी—और
हमारे तीर्थ भी भारतमें सर्वत्र व्याप्त हैं। भारतवर्षको यथासम्भव
समग्ररूपसे प्रत्यक्ष जानने और अनुभवमें लानेका यही उपाय था।
केवल शिक्षाको लक्ष्य बनाकर पाँच वर्ष तक छात्रो को यदि

सारा भारतवर्ष घुमाया जाय, तो उनकी शिक्षा पक्की शिक्षा हो सकती है।

मन जब सचल रहता है, तब वह शिक्षाके विषयोंको सरलतासे ग्रहण कर सकता है और उसका परिपाक भी अच्छा होता है। बँधी हुई खुराकके साथ-साथ जैसे गायोंको खेतोंमें चरकर खाने देना भी जरूरी है, उसी तरह बँधी हुई शिक्षाके साथ-ही-साथ चरकर शिक्षा ग्रहण करना भी हृदय या मनके लिए अत्यन्त आवश्यक है। अचल विद्यालयोंमें कैद रहकर अचल श्रेणी या क्लासों की पुस्तकों की खुराकसे मनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। पुस्तकों की आवश्यकताको एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता—मनुष्यके लिए ज्ञानके विषय इतने अधिक हैं कि खेतमें चरकर पूरा पेट नहीं भरा जा सकता, भंडारसे ही उन्हें अधिकतर लेना पड़ता है। परन्तु पुस्तकों के विद्यालयको साथ लेकर यदि प्रकृतिके विद्यालयमें भी छात्रों को घुमाया जाय, तो फिर किसी तरहकी कमी न रहे। इस विषयमें बहुतसी बातें मेरे मनमें थीं और आशा थी कि यदि पूँजी मिले, तो किसी समय शिक्षा-परिव्रजन चला सकूँगा, परन्तु अब मेरे पास समय भी नहीं है और पूँजी भी नहीं मिल सकती।

सोवियट-रूसमें, जैसा कि देख रहा हूं, सर्वसाधारणके लिए देश-भ्रमणकी व्यवस्थाका भी काफी प्रसार हो रहा है। विशाल इनका देश है, विचित्र जातियोंके मनुष्य उसके अधिवासी हैं। ज़ारके शासनकालमें एक तरहसे इनको परस्पर भेंट-मुलाकात, जान-पहचान

और मिलने-जुलनेकी सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि उस समय देश-भ्रमण एक शौककी चीज़ थी, और वह धनाढ्यो के लिए ही सम्भव था। सोवियटके ज़मानेमें सर्व-साधारणके लिए उसकी व्यवस्था है। परिश्रमसे थके हुए तथा रुग्न मजूरोंकी थकावट और रोग दूर करनेके लिए पहलेसे ही सोवियटोंने दूर और निकटवर्ती अनेक स्थानोंमें स्वास्थ्य-निवासो की स्थापनाके लिए उद्योग किया है। पहले जमानेके बड़े-बड़े महल-मकानो को उन लोगोंने इसी काममे लगा दिया है। उन सब स्थानोंमें जाकर जैसे विश्राम और आरोग्य लाभ करना एक लक्ष्य है, उसी तरह दूसरा लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना भी है।

लोक-हितके प्रति जिनका अनुराग है, इस भ्रमणके समय वे नाना स्थानोंमे जाकर नाना प्रकारके मनुष्योंकी अनुकूलताके विषयमे भी चिन्ता करते हैं, और यही उसके लिए अच्छा अवसर है। जनसाधारणको देश-भ्रमणके लिए उत्साहित करने और उसके लिए उन्हे सुविधाएँ देनेके लिए रास्तेमे बीच-बीचमे खास-खास विषयोंकी शिक्षा देनेके योग्य संस्थाएँ खोली गई है, वहाँ पथिकोंके खाने-पीने और रहने-सोनेका इन्तज़ाम है, इसके सिवा सब तरहके जरूरी विषयोंमें वहाँसे उन्हें अच्छी सलाह भी मिल सकती है। काकेशिया प्रान्त भूतत्त्वकी आलोचनाके लिए एक उपयोगी स्थान है। वहाँ इस तरहके पान्थ-शिक्षालयोंमें भूतत्त्वके सम्बन्धमे विशेष व्याख्यान दिये जाते हैं। जो प्रान्त विशेष रूपसे मनुष्यतत्त्वकी आलोचनाके

लिए उपयुक्त हैं, उन स्थानोंमें मनुष्यतत्त्वके विशेषज्ञ उपदेशक तैयार किये गये है।

गरमियोंके दिनोंमें हजारो भ्रमणेच्छु दफ्तरोंमें जाकर अपने नाम दर्ज कराते हैं। इस तरहकी यात्राएं मई महीनेसे शुरू होती हैं—प्रतिदिन दलके दल नाना मार्गोसे यात्रा करनेके लिए निकल पडते हैं—एक-एक दलमे पचीस-तीस यात्री होते हैं। सन् १९२८ मे इन यात्रि-सघोंके सदस्योंकी सख्या थी तीन हजारके लगभग—२९ मे उनकी सख्या हुई है बारह हजारसे भी ऊपर।

इस विषयमें यूरोपके अन्य स्थानो या अमेरिकासे तुलना करना ठीक न होगा, हमेशा याद रखना चाहिए कि रूसमें आजसे दस वर्ष पहले मजदूरोकी दशा हमारे ही समान थी,—इस बातका किसीको आभास तक न था कि वे शिक्षा प्राप्त करेंगे, विश्राम करेंगे या स्वास्थ्य-सम्पन्न होंगे,—आज इन लोगोंको जो सुविधाएं सहज ही में मिल रही हैं, वे हमारे यहाँके मध्यम श्रेणीके गृहस्थोंके लिए तो आशातीत हैं और धनिकोके लिए भी सहज नहीं है। इसके सिवा यहाँ शिक्षा प्राप्त करनेकी धारा सारे देश-भरमे एकसाथ इतनी प्रणालियोसे बह रही है कि सिविल-सर्विससे सरक्षित हमारे देशवासी उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते।

जैसी शिक्षाकी व्यवस्था है, वैसी ही स्वास्थ्यकी। स्वास्थ्य-तत्त्वके विषयमे सोवियट-रूसमे जैसा वैज्ञानिक अनुशीलन हो

रहा है, उसे देखकर यूरोप और अमेरिकाके विद्वान भी इनकी मुक्तकठसे प्रशसा करते हैं। सिर्फ मोटी तनखावाले विशेषज्ञोंसे पुस्तकें लिखवाना ही इनके कर्तव्यकी हद हो, सो वात नहीं, ये तो इस कोशिशमे है कि साधारण जनतामे भी स्वास्थ्य-विज्ञानके प्रयोगोको व्याप्त कर दें, यहाँ तक कि देशकी चौखोसे जो वहुत दूर रहते है, वे भी अस्वास्थ्यकर अवस्थामे विना सेवा और इलाजके न मरने पावें—वहाँ तक ये अपनी पूरी दृष्टि दौडाते है।

हमारे देशमें घर-घर यक्ष्मा या क्षयरोग फैला हुआ है—रूस आनेके वाद इस प्रश्नको मनसे दूर कर ही न सका कि हमारे यहाँ गरीव मुमूर्षुओके लिए कितने आरोग्याश्रम हैं? इस समय यह प्रश्न मेरे हृदयमे इसलिए और भी उठ खडा हुआ है कि ईसाई धर्मयाजक लोग भारत-शासनकी वडी-भारी डिफिकल्टीजके वारेमे अमेरिकावालोके सामने रोया-झींका करते हैं।

डिफिकल्टीज है क्यों नहीं, जरूर है। एक ओर उन डिफिकल्टीजो की जडमे है भारतीयोंकी अशिक्षा और दूसरी ओर है भारत-शासनकी वहुव्ययिता—अनापशनाप खर्च। उसके लिए किसे दोप दिया जाय? रूसमे अन्न-वस्त्रका अभाव आज भी दूर नहीं हुआ है, रूस भी वहु-विस्तृत देश है, वहाँ भी वहुत विचित्र जातियोका वास है, वहाँ भी अज्ञान और स्वास्थ्यतत्त्वके विपयमें पर्वत-प्रमाण अनाचार मौजूद था, परन्तु फिर भी, न तो वहाँ शिक्षा-प्रचारमें किसी तरहकी वाधा है

और न स्वास्थ्य-प्रचारमें कोई अड़चन, इसीलिए बिना प्रश्न किये रहा नहीं जाता कि डिफिकल्टीज़ दर-असल हैं किस जगह ?

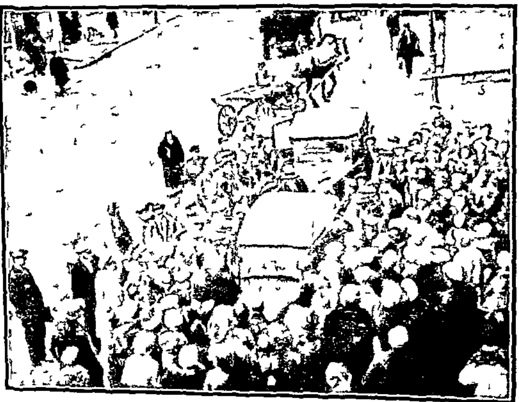
जो मेहनत-मजदूरी करके पेट भरते हैं, उन्हें सोवियट स्वास्थ्य-निवासोंमें बिना खर्चके रहने दिया जाता है, और उन स्वास्थ्य-निवासोंके साथ-ही-साथ आरोग्य-आश्रम ( Sanatorium ) भी होते हैं। वहाँ सिर्फ चिकित्सा ही नहीं, बल्कि पथ्य और शुश्रूषाकी भी उचित व्यवस्था रहती है। ये सभी व्यवस्थाएँ सर्वसाधारणके लिए हैं, और सर्वसाधारणमें ऐसी सभी जातियाँ शामिल हैं, जिन्हें यूरोपीय नहीं कहा जा सकता, और यूरोपके आदर्शके अनुसार जिन्हें असभ्य कहा जाता है।

इस तरहकी पिछड़ी हुई जातियोंको—जो यूरोपीय रूसके किनारे या बाहर बस रही हैं—शिक्षाके लिए सन् १९२८ के बजटमें कितने रुपये स्वीकृत किये गये हैं, उसे देखनेसे ही पता चल जायगा कि शिक्षा-प्रचारके लिए इनका कैसा उदार प्रयत्न है। यूक्रेनियन रिपब्लिकके लिए ४० करोड़ ३० लाख, अति-ककेशीय रिपब्लिकके लिए १३ करोड़ ४० लाख, उजबेकिस्तानके लिए ६ करोड़ ७० लाख और तुर्कमेनिस्तानके लिए २ करोड़ ६ लाख रूबल मंजूर किये गये हैं।

अनेक देशोंमें अरबी लिपिका प्रचलन होनेके कारण शिक्षा प्रचारमें अड़चन होती थी, वहाँ रोमन लिपि चलाकर वह अड़चन दूर कर दी गई है।

होती है। इसकी व्यवस्थामें कईएक कार्य-विभाग हैं, जैसे—स्वास्थ्य-विभाग, गार्हस्थ्य-विभाग (Household commission), क्लास कमेटी आदि। स्वास्थ्य-विभाग देखता है कि सब कमरों (compartments), क्लासों और आंगन वगैरहमे सफाई रहती है या नहीं। कोई लडका अगर बीमार पड जाय—फिर चाहे वह मामूलीसे मामूली बीमारी क्यो न हो—तो उसके लिए डाक्टर बुलाने और इलाज करनेका भार इसी विभागपर है। गार्हस्थ विभागके अन्तर्गत बहुतसे उपविभाग हैं। इस विभागका कर्तव्य है कि वह इस बातकी देखभाल रखे कि लडके साफ-सुथरे रहते हैं या नहीं। क्लासमे पढते समय लडकोंके आचरणपर दृष्टि रखना क्लास-कमेटीका काम है। प्रत्येक विभागसे प्रतिनिधि चुनकर अध्यक्ष-सभा बनाई जाती है। इस अध्यक्ष-सभाके प्रतिनिधियोको स्कूल-कौन्सिलमें वोट देनेका अधिकार प्राप्त है। लडकोंका आपसमे या और किसीके साथ झगडा-टटा हो जाय, तो अध्यक्ष-सभा उसकी जाँच करती है, और यह सभा जो फैसला देती है, उसे सब छात्र माननेके लिए वाध्य हैं।

इस विद्या-भवनके साथ एक क्लब है। वहाँ अकसर बहुतसे लडके मिलकर अपनी भाषामे नाटक खेलते और गाते-बजाते है। क्लबका अपना एक सिनेमा भी है, जिसमें लडकोंको मध्य-एशियाके जीवन-यात्राकी चित्रावली दिखाई जाती है। इसके सिवा दीवारोंपर टाँगनेके अखबार भी निकाले जाते हैं।



चित्र-प्रदर्शनीमें रवीन्द्रनाथका आगमन

तुर्कमेनिस्तानको खेतीकी उन्नतिके लिए वहाँ काफी संख्यामें कृषि-विद्याके विशेषज्ञ भेजे जाते हैं। दो सौ से अधिक आदर्श कृषि-क्षेत्र खोले गये हैं। इसके सिवा पानी और ज़मीनके व्यवहारके सम्बन्धमें ऐसी व्यवस्था की गई है कि बीस हज़ार गरीब-से-गरीब किसान-परिवारोंको खेतीके लिए खेत, पानी और कृषिके वाहन ( बैल घोड़े आदि ) आसानीसे मिल गये हैं।

इस कम प्रजावाले देशमें १३० अस्पताल खोले गये हैं, और डाक्टरोंकी संख्या है छै सौ। बुलेटिनके लेखक सलज्ज भाषामें लिखते हैं —

"However, there is no occasion to rejoice in the fact, since there are 2,640 inhabitants to each hospital bed, and as regards doctors, Turcmenistan must be relegated to the last place in the Union, We can boast of some attainments in the field of modernization and the struggle against crass ignorance, though again we must warn the reader that Turcmenistan, being on a very low level of civilization, has preserved a good many customs of the distant past However, the recent laws, passed in order to combat the selling of women into marriage and child marriages, had produced the desired effect"

तुर्कमेनिस्तान-जैसे मरु-प्रदेशमें ६ सालके अंदर १३० अस्पताल खोले गये, इसके लिए ये शर्मिन्दा हो रहे हैं—ऐसी शर्म देखनेका अभ्यास हमें नहीं है, इसलिए हमें आश्चर्य हुआ। हमें अपने सामने बहुतसी डिफिकल्टीज़ दिखाई दीं, और यह

लक्षण भी दिखाई दिया कि वे जल्दी टससे मस होनेवाली नहीं हैं, किन्तु सवाल तो यह है कि उसके लिए हममें विशेष लज्जा क्यों नहीं दिखाई देती ?

सच बात तो यह है कि मेरे हृदयसे भी इसके पहले देशके लिए काफी आशा करनेका साहस जाता रहा था। ईसाई पादरियोंकी तरह मैं भी डिफिकल्टीजोंका हिसाब देखकर दंग रह गया था—मन-ही-मन कहता था कि इतने विचित्र जातियोंके मनुष्य हैं, इतनी विचित्र जातियोकी मूर्खताएँ हैं, इतने परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं, ऐसी दशामें न-जाने कितने दिन लगेंगे अपने दुःखोंका बोझ हटानेमें—अपने कलुष-कालिमाको धोनेमें।

साइमन-कमीशनकी फसल जिस आब-हावमे फली है, अपने देशके सम्बन्धमे मेरी प्रत्याशाकी भीरुता भी उसी आव-हावकी उपज है। सोवियट-रूसमे आकर देखा कि यहाँकी उन्नतिकी घडी हमारी ही घड़ीकी तरह बद थी—कमसे कम सवसाधारणके घरोमें, किन्तु यहाँ आज सैकडों वर्षोंसे बंद-पडी घडीमे आठ-दस वर्ष चाबी भरते ही वह मज़ेमें चलने लगी है। इतने दिनों बाद समझ सका हू कि हमारी घडी भी चल सकती थी, किन्तु चाबी नहीं भरी गई। डिफिकल्टीजके मत्र परसे अब मेरा विश्वास उठ गया है।

अब बुलेटिनमें से दो-चार अंश उद्धृत करके चिट्ठी समाप्त करूंगा —

"The imperialist policy of the Czarist generals, after the conquest of Azerbaijan, consisted in converting the districts, inhabited by Mahommedans into colonies, destined to supply raw material to the central Russian markets"

याद है, बहुत दिन हुए स्वर्गीय अक्षयकुमार मैत्रेय तब रेशमकी खेतीके बारेमे बडे उत्साही थे, उनकी सलाहसे मैं भी रेशमकी खेतीके प्रचारके काममें लगा हुआ था। उन्होंने मुझसे कहा था—"रेशमकी खेतीमे मजिस्ट्रेटसे मुझे बहुत-कुछ सहयोग मिला है, परन्तु जितनी बार इन कोओंसे सूत और सूतसे कपडे बुननेका काम किसानोंमे चालू करनेकी इच्छा प्रकट की, उतनी ही बार मजिस्ट्रेटने उसमे बाधा पहुचाई।"

"The agents of the Czar's Government were ruthlessly carrying out principle of 'Divide and Rule' and did all in their power to sow hatred and discord between the various races National animosities were fostered by the Government and Mahommedans and Armenians were systematically incited against each other The ever-recurring conflicts between these two nations at times assumed the form of massacres"

अस्पतालोंकी अल्प सख्याके विषयमे बुलेटिन-लेखकने अपनी लज्जाको स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु एक विषयमे अपना गौरव प्रकट किये बिना उनसे रहा नहीं गया —

"It is an undoubted fact, which even the worst enemies of the Soviets cannot deny for the last eight years the peace between the races of Azerbaijan has never been disturbed"

भारतवर्षके राज्यमे लज्जा प्रकट करनेका चलन नहीं है, गौरव प्रकट करनेका भी रास्ता नहीं देखनेमें आता।

इस लज्जा-स्वीकारके प्रसंगमे एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वह यह कि बुलेटिनमें लिखा है—सारे तुर्कमेनिस्तानमें शिक्षाके लिए आदमी-पीछे पाँच रुबल खर्च किये जाते है। रुबलका मूल्य हमारे देशके रुपयेके हिसाबसे ढाई रुपया है। पाँच रुबलका मतलब है साढे-बारह रुपया। इसके लिए कर वसूलीका कोई ज़रिया होगा अवश्य, पर वह ऐसा नहीं है कि जो प्रजामे अपने अदर आत्म-विरोध पैदा कर दे।

८ अक्टोबर, १९३०

## १२

*मेमेन जहाज*

तुर्कमेनियोंके विषयमे पहले ही लिख चुका हू कि वे मरुभूमि-निवासी सख्यामे दस लाख है। यह चिट्ठी उसीका परिशिष्ट है। सोवियट-सरकारने वहाँ कौन-कौनसे विद्यामदिर स्थापित करनेका सकल्प किया है, उसकी एक सूची दे रहा हू —

Beginning with October 1st, 1930, the new budget year, a number of new scientific institutions and Institutes will be opened in Turcomenia, namely

1 Turcomen Geological Committee ,

2 Turcomen Institute of Applied Botany ,

3 Institute for study and research of stock breeding ,

4 Institute of Hydrology and Geophysics ,

5 *Institute for Economic Research* ,

6 Chemico-Bacteriological Institute, and Institute of Social Hygiene

The activity of all the scientific institutions of Turcomenia will be regulated by a special scientific *management attached to the Council of People's Commissars* of Turcomenia

In connection with the removal of the Turcomen Government from Ashkhabad *to* Chardjui the construction of buildings for the following museums has been started —Historical Agricultural, Industrial and Trade Museum Art Museum Museums of the Revolution In addition, the construction of an Observatory, State Library, House of published books and House of Science and Culture is planned

The Department of Language and Literature of the Institute of the Turcomen Culture has completed the revision and translation into Russian of Turcomenian poetry including folk lore material and old poetry texts,

Five itinerant cultural bases have been organized in Turcomenia During the year 1930 two courses for training practical nurses and midwives were completed Altogether 46 persons were graduated All graduates are *sent to the village*

८ अक्टोबर, १९३०

१३

सोवियट-रूसने साधारण जन-समाजको शिक्षा देनेके लिए कित
विविध प्रकारके उपाय काममे लाये गये है, उसका कुछ-कु
आभास पहलेकी चिट्ठियोंसे मिल गया होगा। आज तुम्हें उन्हींमें
एक उद्योगका संक्षिप्त विवरण लिख रहा हू।

कुछ दिन हुए मास्को शहरमे सर्वसाधारणके लिए एक आराम
बाग कायम किया गया है। बुलेटिनमे उसका नाम दिया है—
Mascow Park of Education and Recreation उसमे ए
प्रधान मंडप है, जो प्रदर्शनीके लिए है। यदि कोई चाहे, त
वहांसे मालूम कर सकता है कि समस्त प्रान्तोंमे कारखानोंक
हजारो मजदूरोंके लिए कितने अस्पताल खोले गये, मास्को प्रान्तमे
स्कूलोंकी संख्यामे कितनी वृद्धि हुई, म्यूनिसिपल विभाग दिख
रहा है कि मजदूरोके रहनेके लिए कितने नये मकान तैयार हुए
किनने नये वगीचे बने, शहरमे कितने विषयोंकी कितनी उन्नति हुई
इत्यादि। प्रदर्शनीमें अनेक प्रकारके माडेल (नमूने) दिखाये गये
हैं, जैसे—पुराने जमानेके गई-गाँव, आधुनिक ग्राम, फल-फूल
और सब्जियाँ पैदा करनेके आदर्श खेत, सोवियट जमानेके सोवियट
कारखानोंमे जो यंत्र (मशीनरी) बनाये जाते हैं, उनके नमूने,

आजकलकी को-आपरेटिव व्यवस्थासे कैसे रोटी बनती है और पिछली क्रान्तिके समय कैसे बनती थी, इत्यादि। इसके अलावा और भी तरह-तरहके तमाशे हैं, और विभिन्न प्रकारके खेलके स्थान हैं, रोज़ एक-न-एक मेला-सा लगा रहता है।

पार्कमें छोटे लडकोंके लिए एक अलग स्थान है, वहाँ बडी उम्रवाले नहीं जा सकते। प्रवेश-द्वारपर लिखा हुआ है—'लडकोंको तग न करो'। यहाँ लडकोंके खेलनेके हरएक तरहके खिलौने, खेल, वचकानी थियेटर आदि हैं, जिनके लडके ही सचालक हैं और लडके ही अभिनेता।

इस लड्कोंके विभागसे कुछ दूरीपर है Creche, हिन्दीमें जिसे 'शिशु-रक्षणी' कहा जा सकता है। पिता-माता जब पार्कमें टहलने लगते हैं, तो छोटे बच्चोंको वे यहाँ धायोंके पास छोड जा सकते हैं। क्लबके लिए एक दुमज़िला मडप (Pavillion) है। ऊपर लाइब्रेरी है। कहीं शतरज खेलनेका सरजाम है, तो कहीं दीवालपर मानचित्र और अखबार पढनेका इन्तजाम है। इसके सिवा सर्वसाधारणके लिए भोजनकी वहुत अच्छी को-आपरेटिव दुकानें हैं, वहाँ शराब वेचना मना है। मास्को-पशुशाला-विभागकी तरफसे यहाँ एक दुकान खुली है, जिसमें तरह-तरहका पक्षि-मास और पौधे बिका करते हैं। प्रान्तीय शहरोंमें भी इस प्रकारके पार्क वनाये जानेका प्रस्ताव हो रहा है।

जो बात विचार करनेकी है, वह यह है कि ये सर्वसाधारणको भद्र-साधारणके उच्छिष्टसे आदमी नहीं बनाना चाहते। उनके लिए

शिक्षा, आराम, जीवन-यात्राके सुयोग आदि पूरी तौरसे दिये जाते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि जनसाधारणके सिवा यहाँ और कुछ है ही नहीं। समाज-ग्रन्थके केवल परिशिष्ट अध्यायमें ही इनका स्थान हो सो बात नहीं, सब अध्यायोंमे ये ही हैं।

और एक दृष्टान्त देता हू। मास्को शहरसे कुछ दूरीपर पुराने ज़मानेका एक प्रासाद है। रूसके अभिजातवंशके काउन्ट अप्राक्सिन लोग उसमे रहते थे। पहाडके चारों तरफका दृश्य बहुत ही सुन्दर है—खेत, नदी और पहाडी जंगल है, दो सरोवर और बहुतसे झरने हैं। विशाल स्तम्भ, ऊँचे बरामदे, पुराने ज़मानेके असबाब, चित्र और पत्थरकी मूर्तियोंसे सुसज्जित दरबार, संगीतशाला, खेलनेके घर और लाइब्रेरी, नाट्यशाला, बहुतसे सुन्दर बैठकखाने—इन सबने प्रासादको अर्द्धचन्द्राकार घेर रखा है।

अब उस विशाल प्रासादमे 'आलगाभो' नामसे एक को-आपरेटिव स्वास्थ्यागार खोला गया है—ऐसे आदमियोके लिए जो किसी दिन उस प्रासादमें गुलाम बनकर रहते थे। सोवियट-राष्ट्रसंघमे एक को-आपरेटिव सोसाइटी है, जिसका मुख्य काम है मजदूरोंके लिए मकान बनवाना, उस सोसाइटीका नाम है 'विश्रान्ति-निकेतन' The Home of Rest 'आलगाभो' स्वास्थ्यागार इसी सोसाइटीकी देखरेखमें चलता है।

इस तरहके और भी चार सैनिटोरियम इसके हाथमें हैं। काम-काजकी मौसिम खतम हो जानेपर कम-से-कम तीस हजार परिश्रमसे थके हुए मजदूर-किसान इन पाँचों आरोग्यशालाओंमे आकर विश्राम

कर सकते हैं। प्रत्येक आदमी पंद्रह दिन तक यहाँ रह सकता है। खाने-पीनेका इन्तजाम अच्छा और पर्याप्त है, आरामका बन्दोबस्त काफी है और डाक्टरकी व्यवस्था भी ठीक है। को-आपरेटिव पद्धतिसे चलनेवाले इन विश्रान्ति-निकेतनोंकी स्थापनाका उद्योग क्रमश सर्वसाधारणकी सहानुभूति और सम्मति प्राप्त कर रहा है।

यह ठीक है कि मजदूरोंके लिए इस ढगके विश्रामकी आवश्यकताको और-कोई देश महसूस नहीं कर सका है, और इस विषयमे इतनी चिन्ता भी और-किसीने नहीं की है, हमारे देशके सम्पन्न व्यक्तियोंके लिए भी ऐसी सुविधाएं मिलना दुर्लभ है।

मजदूरोके लिए इनकी कैसी सुन्दर व्यवस्था है, यह तो मालूम हो ही गया। अब बच्चोंके सम्बन्धमे कैसी व्यवस्था है, इसपर कुछ लिखता हू। बच्चा, चाहे वह जारज हो या विवाहित दम्पतिकी सन्तान, दोनोमे कुछ फर्क नहीं समझा जाता। कानून यह है कि बच्चा जब तक अठारह सालका होकर बालिग न हो जाय, तब तक उसके पालन-पोषणका भार पिता-मातापर होगा। घरपर बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षाके लिए मा-बाप क्या कर रहे हैं, क्या नहीं—इस विषयमें राज्य उदासीन नहीं रहता। सोलह सालकी उमरके पहले किसी भी बालकको मेहनत-मजूरीके कामपर नहीं लगाया जा सकता। अठारह सालकी उमर तक उनके काम करनेका समय छै घंटे है, इससे ज्यादा नहीं। बच्चोंक प्रति माता अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं या नहीं, इसकी जाँच भार अभिभावक-विभागपर है। इस विभागके कर्मचारी बी—

शिक्षा, आराम, जीवन-यात्राके सुयोग आदि पूरी तौरसे दिये जाते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि जनसाधारणके सिवा यहाँ और कुछ है ही नहीं। समाज-ग्रन्थके केवल परिशिष्ट अध्यायमें ही इनका स्थान हो सो बात नहीं, सब अध्यायोंमें ये ही हैं।

और एक दृष्टान्त देता हू। मास्को शहरसे कुछ दूरीपर पुराने जमानेका एक प्रासाद है। रूसके अभिजातवंशके काउन्ट अप्राक्सिन लोग उसमें रहते थे। पहाडके चारों तरफका दृश्य बहुत ही सुन्दर है—खेत, नदी और पहाडी जंगल है, दो सरोवर और बहुतसे झरने हैं। विशाल स्तम्भ, ऊँचे बरामदे, पुराने जमानेके असबाब, चित्र और पत्थरकी मूर्तियोंसे सुसज्जित दरबार, संगीतशाला, खेलनेके घर और लाइब्रेरी, नाट्यशाला, बहुतसे सुन्दर बैठकखाने—इन सबने प्रासादको अर्द्धचन्द्राकार घेर रखा है।

अब उस विशाल प्रासादमें 'आलगाभो' नामसे एक को-आपरेटिव स्वास्थ्यागार खोला गया है—ऐसे आदमियोंके लिए जो किसी दिन उस प्रासादमें गुलाम बनकर रहते थे। सोवियट-राष्ट्रसंघमें एक को-आपरेटिव सोसाइटी है, जिसका मुख्य काम है मजदूरोंके लिए मकान बनवाना, उस सोसाइटीका नाम है 'विश्रान्ति-निकेतन' The Home of Rest. 'आलगाभो' स्वास्थ्यागार इसी सोसाइटीकी देखरेखमें चलता है।

इस तरहके और भी चार सैनिटोरियम इसके हाथमें है। काम-काजकी मौसिम खतम हो जानेपर कम-से-कम तीस हजार परिश्रमसे थके हुए मजदूर-किसान इन पाँचों आरोग्यशालाओंमे आकर विश्राम

कर सकते हैं। प्रत्येक आदमी पन्द्रह दिन तक यहाँ रह सकता है। खाने-पीनेका इन्तजाम अच्छा और पर्याप्त है, आरामका बन्दोबस्त काफी है और डाक्टरकी व्यवस्था भी ठीक है। को-आपरेटिव पद्धतिसे चलनेवाले इन विश्रान्ति-निकेतनोंकी स्थापनाका उद्योग क्रमश सर्वसाधारणकी सहानुभूति और सम्मति प्राप्त कर रहा है।

यह ठीक है कि मजदूरोंके लिए इस ढगके विश्रामकी आवश्यकताको और-कोई देश महसूस नहीं कर सका है, और इस विषयमे इतनी चिन्ता भी और-किसीने नहीं की है, हमारे देशके सम्पन्न व्यक्तियोंके लिए भी ऐसी सुविधाए मिलना दुर्लभ है।

मजदूरोके लिए इनकी कैसी सुन्दर व्यवस्था है, यह तो मालूम हो ही गया। अब बच्चोंके सम्बन्धमे कैसी व्यवस्था है, इसपर कुछ लिखता हू। बच्चा, चाहे वह जारज हो या विवाहित दम्पतिकी सन्तान, दोनोमे कुछ फर्क नहीं समझा जाता। कानून यह है कि बच्चा जब तक अठारह सालका होकर बालिग न हो जाय, तब तक उसके पालन-पोषणका भार पिता-मातापर होगा। घरपर बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षाके लिए मा-बाप क्या कर रहे है, क्या नहीं—इस विषयमें राज्य उदासीन नहीं रहता। सोलह सालकी उमरके पहले किसी भी बालकको मेहनत-मजूरीके कामपर नहीं लगाया जा सकता। अठारह सालकी उमर तक उनके काम करनेका समय छै घंटे है, इससे ज्यादा नहीं। बच्चोंके प्रति माता-पिता अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं या नहीं, इसकी जाँच करनेका भार अभिभावक-विभागपर है। इस विभागके कर्मचारी बीच-बीचमें

देख-भालके लिए निकलते हैं—देखते हैं कि बच्चोंका स्वास्थ्य कैसा है, क्या पढ़ते-लिखते हैं। अगर मालूम हुआ कि लड़कोंका पालन-पोषण ठीक नहीं हो रहा है, तो पिता-माताके हाथसे बच्चोंको अलग कर लिया जाता है। मगर फिर भी बच्चोंके भरण-पोषणकी जिम्मेदारी मा-बापपर ही रहती है। इस तरहके लड़के-लड़कियोंको पाल-पोसकर योग्य बनानेका भार पड़ता है सरकारी अभिभावकोंपर।

बात असलमें यह है,—सन्तानें केवल मा-बापकी ही नहीं हैं, मुख्यतः सारे समाजकी हैं। उनकी भलाई-बुराई सारे समाजकी भलाई-बुराई है, इसलिए उनको योग्य बनानेकी जिम्मेदारी समाजकी है, क्योंकि उसका नतीजा समाजको ही भोगना पड़ेगा। विचार कर देखा जाय, तो परिवारकी जिम्मेदारीसे समाजकी जिम्मेदारी ज्यादा है, कम नहीं। सर्वसाधारणके विषयमें भी इनके ऐसे ही विचार हैं। इनके विचारसे सर्वसाधारणका अस्तित्व मुख्यतः विशिष्ट-साधारणके लाभ या सुविधाके लिए नहीं है। सर्वसाधारण समस्त समाजका अग है, न कि समाजके किसी विशेष अंगका प्रत्यंग। अतएव इनके लिए सारा स्टेट जिम्मेदार है। व्यक्तिगत रूपसे अपने भोग या प्रतापके लिए कोई समस्त समाजको उल्लंघन कर जाय, यह नहीं हो सकता।

कुछ भी हो, मैं नहीं समझता कि मनुष्यकी व्यक्तिगत और समष्टिगत सीमाका इन लोगोंने ठीक तौरसे पता लगा लिया है। इस विषयमे ये फैसिस्टोंके समान हैं। यही कारण है कि समष्टिके लिए व्यष्टि ( व्यक्तित्व ) को पीडा देनेमे ये लोग किसी तरहकी बाधा नहीं मानना चाहते। वे इस बातको भूल जाते हैं कि व्यष्टिको दुर्बल करके

समष्टिको सवल नहीं वनाया जा सकता, व्यष्टि यदि वन्धनवद्ध हो जाय, तो समष्टि स्वाधीन नहीं हो सकती। यहाँ ज़बरदस्त आदमीका एकनायकत्व चल रहा है। इस तरह एकके हाथमें देशकी वागडोर रहना कदाचित् कुछ दिनके लिए अच्छा फल दे भी सकता है, किन्तु वह स्थायी कभी नहीं हो सकता। परम्परा-रूपसे वरावर सुयोग्य नायकका मिलना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता।

इसके सिवा, अबाध शक्तिका लोभ मनुष्यकी बुद्धिमे विकार उत्पन्न कर देता है। हाँ, एक इनमें अच्छी बात है, यद्यपि सोवियट मूल नीतिके विषयमे इन लोगोंने मनुष्यकी व्यक्तिगत स्वाधीनताको अत्यन्त निर्दयताके साथ कुचलनेमे कोई सकोच नहीं किया, फिर भी साधारण रीतिसे शिक्षा और चर्चाके द्वारा व्यक्तिकी आत्म-शक्तिको ये वढाते ही जा रहे हैं—फैसिस्टोंकी तरह लगातार उसे पीसते ही नहीं रहे। शिक्षाको अपने विशेष मतकी अनुगामी वनाकर कुछ शक्तिके वलपर और कुछ मोहमन्त्रके जोरसे एकमुखी कर डाला है, फिर भी सर्वसाधारणकी बुद्धिका काम वद नहीं किया है। यद्यपि सोवियट-नीतिके प्रचारके सम्बन्धमें इन लोगोंने युक्ति-बलके ऊपर भी वाहुवलको खडा कर रखा है, फिर भी युक्तिको विलकुल छोडा नहीं है, और धर्म-मूढता और समाज-प्रथाकी अन्धतासे सर्वसाधारणके हृदय-मनको मुक्त रखनेके लिए प्रवल उद्यम किया है।

मनको एक तरफसे स्वाधीन बनाकर दूसरी ओरसे अत्याचारोंसे उसे वश करना सहज काम नहीं है। भयका प्रभाव कुछ दिन काम कर सकता है, अन्तमें उस भीरुताको धिकारकर शिक्षित मन किसी

सम्राटोंकी भी यही प्रवृत्ति थी। फिनिश लोग समुद्रोंके किनारे-किनारे वाणिज्य करते रहे, पर राज्यकी छीना-झपटीसे वे दूर ही रहे।

एक दिन यूरोपसे वणिकोंके जहाज़ जब पूर्व महादेशके घाटोंपर आ-आकर जमा होने लगे, तबसे संसारके मानव-समाजके इतिहासमे एक नया अध्याय क्रमश प्रकट होने लगा, क्षात्र-युग चला गया, वैश्ययुगने पदार्पण किया। इस युगमे वणिकोंका दल विदेशोंमे पहुचकर वहांके बाजारोंके पिछवाडेमें अपना राज्य स्थापन करने लगा। मुख्यतः वे मुनाफेके अंकोको बढाना चाहते थे—वीर धनकर सम्मान प्राप्त करना उनका लक्ष्य न था। इस कामके लिए उन्होंने अनेक तरहके कुटिल हथकडोंसे काम लिया और उसके लिए वे ज़रा भी लज्जित नहीं थे, कारण वे चाहते थे सिद्धि—कीर्तिसे उन्हें कोई मतलब नहीं था।

उस समय भारतवर्ष अपने विपुल ऐश्वर्यके लिए ससारमे प्रसिद्ध था—उस जमानेके विदेशी ऐतिहासिकगण बार-बार इस बातकी घोषणा कर गये हैं। यहाँ तक कि स्वय क्लाइवने कहा है—"भारतवर्षकी धनशालिताके विषयमें जब विचार करता हू, तो मैं अपने अपहरण-नैपुण्यके संयमसे आप ही विस्मित हो जाता हू।" इतना-विपुल-धन ऐश्वर्य, यह कभी भी सहजमें नहीं हो सकता—भारतवर्षने इसे स्वय ही उत्पन्न किया था। तब विदेशसे आकर जो यहांके राज्यासनपर बैठे थे, उन्होने इस धन-ऐश्वर्यका भोग किया, पर उसे नष्ट नहीं किया। अर्थात् वे भोगी थे, किन्तु बणिक न थे।



रवीन्द्रनाथ चित्र-प्रदर्शनीमें रवीन्द्रनाथ

उसके बाद वाणिज्यके मार्गको सुगम करनेके लिए विदेशी वणिकोंने अपने कारोबारकी गद्दीपर राज्यका तख्त बिठाया। समय उनके अनुकूल था। तब मुग़ल राज्यमें घुन लगना शुरू हो गया था, मरहठे और सिख मुगल-साम्राज्यकी मजबूत जंजीरकी कड़ियों को काटनेमें लगे हुए थे, इतनेमें अंगरेजों का हाथ लगा और उनका हाथ लगते ही वह छिन्न-भिन्न होकर ध्वंसके रास्तेपर चला गया।

और भी प्राचीनकालमें जब राज-गौरवके लोलुप इस देशमें राज्य करते थे, तब यहाँ अत्याचार, अन्याय और अव्यवस्था थी ही नहीं, यह बात नहीं कही जा सकती, मगर फिर भी वे थे इस देशके ही अंग। उनके पैने नाखूनोंसे देशके शरीरपर जो दाग या घाव-से पड़ गये थे, वे सिर्फ चमड़ेपर ही थे, रक्तपात भी काफी हुआ था, मगर उससे अस्थि-बन्धन ढीले नहीं हुए। धन-उत्पादनके विचित्र कार्य उस समय ज्योंके त्यों चल रहे थे, यहाँ तक कि नवाब बादशाहोंकी तरफसे भी उनमें सहारा मिला था। अगर ऐसा न होता, तो यहाँ विदेशी वणिकोंकी भीड़ इतनी न जमने पाती,—मरुभूमिमें टिड्डियोंका क्या काम ?

उसके बाद भारतमें वाणिज्य और साम्राज्यके अशुभ संगमकालमें वणिक राजा देशके धन-कल्पतरुकी जड़को किस तरह खोदने लगे, इसका इतिहास सैकड़ों बार कहा हुआ और अत्यन्त कर्णकटु है। परन्तु पुराना होनेसे उसे विस्मृतिके ढकनेसे ढका नहीं जा सकता। इस देशकी वर्तमान दुःखद

दरिद्रताकी भूमिका तो वहींसे है। भारतवर्ष किसी दिन धन-महिमामे सर्वश्रेष्ठ था, परन्तु उसकी वह महिमा न-जाने किस वाहनपर बैठकर द्वीपान्तरको चली गई,—अगर हम इस वातको भूल जायँ, तो ससारके आधुनिक इतिहासकी एक तत्त्वपूर्ण वात ही छूट जायगी। आधुनिक राजनीतिकी प्रेरणाशक्ति वल-वीर्यका अभिमान नहीं है, वह है धनका लोभ, और इस तत्त्वको हमे याद रखना चाहिए। राज-गौरवके साथ प्रजाका एक मानविक सम्बन्ध रहता है, किन्तु धन-लोभके साथ वह रह ही नहीं सकता। धन निर्मम है, निर्दय है, नैर्व्यक्तिक है। जो मुरगी सोनेके अंडे देती है, लोभ सिर्फ उसके अडोको ही टोकरीमे उठा ले जाता हो, सो वात नहीं, वह मुरगी तकको जिवह कर डालता है।

वणिक-राजके लोभने भारतकी धन-उत्पादनकारी विचित्र शक्तिको ही पगु कर दिया है। वची है सिर्फ कृषि, नहीं तो कच्चे मालका पाना उनके लिए वंद हो जाता और विदेशी मालके वाजारमें हमारी मूल्य देनेकी शक्ति विलकुल ही नष्ट हो जाती। भारतकी रोजमर्राकी जीविका इस अत्यन्त क्षीण वृन्तपर अवलम्बित है।

यह वात मान लेते हैं कि उस जमानेमें जिस निपुणता और जिन तरीकों से हाथका काम चलता था और कारीगर लोग जिससे अपनी गुजर करते थे, यत्र (मशीनरी) की प्रतियोगितामें वे सव अपने आप ही निष्क्रिय हो गये हैं। इसलिए प्रजाकी

रक्षाके लिए यह बहुत ही आवश्यक था कि हर तरहसे उन्हें यन्त्र-कुशल बना दिया जाय। जान बचानेके लिए सभी देशोंमें आज यह उद्योग प्रबल है। जापानने थोड़े समयके अंदर धनके यन्त्र-वाहनको अपने काबूमें कर लिया है। मगर वह ऐसा न करता, तो 'यन्त्री यूरोप' के षडयन्त्रसे वह धन और प्राण दोनोंसे ही हाथ धो बैठता। हमारे भाग्यमें वह भी नहीं बदा था, क्योंकि लोभ ईर्ष्यालु होता है। उस जबर्दस्त लोभके मारे हमारे धन-प्राण सूखे जा रहे हैं, उसके बदले राजा हमें सान्त्वना देनेके लिए कहते हैं—"अब जो धन-प्राण थोड़ा-बहुत बाकी बचा है, उसकी रक्षाके लिए कानून और चौकीदारोंकी व्यवस्थाका भार हमपर रहा।" इधर हम अपने अन्न-वस्त्र और विद्या-बुद्धिको गिरवी रखकर मौतके किनारे खड़े हुए चौकीदारोंकी वर्दीका खर्च जुटा रहे हैं। यह जो घातक उपेक्षा या उदासीनता है, इसकी जड़में है लोभ। सब तरहकी ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिका जहाँ झरना या पीठस्थान है, वहाँसे बहुत नीचे खड़े हुए अब तक हम मुँह बाये ऊपर ही की ओर देखते आ रहे हैं, और उस ऊर्ध्वलोकसे बराबर यही आश्वासवाणी सुनते आ रहे हैं— "तुम्हारी शक्ति यदि क्षय हो रही है, तो तुम्हें डर किस बातका? हमारे पास शक्ति है, हम तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

जिसके साथ लोभका सम्बन्ध है, उससे मनुष्य मतलब साधता है, कभी भी उसका सम्मान नहीं करता। और जिसका सम्मान नहीं करता, उसकी माँगको वह जहाँ तक बनता है

छोटा बनाये रखता है। अन्तमे वह असम्मानित मनुष्य इतना ज्यादा सस्ता हो जाता है कि उसके बडेसे बडे अभावमे भी थोडासा खर्च करना भी उनको खटकने लगता है, जो बराबर उससे अपना मतलब गाँठते रहे हैं। हमारे प्राण और मनुष्यत्वकी रक्षाके लिए कितना कम दिया जाता है, इस बातको सभी जानते हैं। खानेके लिए अन्न नहीं, जाननेके लिए विद्या नहीं, इलाजके लिए वैद्य नहीं, पानीके लिए पानी निकालना पडता है कीच छानकर, मगर फिर भी हमारे चारों तरफ चौकीदारोंका जमघट है, और है मोटी तनखा पानेवाले अफसरोंकी भीड, जिनका वेतन गल्फ-स्टीमकी तरह सब चला जाता है ब्रिटिश द्वीपके शीत-निवारणके लिए, और अन्तमे उनकी पेन्शन चुकानी पडती है हमे अपनी अन्त्येष्टि-क्रियाके खर्चमे से। इसका एकमात्र कारण—लोभ अन्धा है, लोभ निष्ठुर है—भारत भारतेश्वरोंके लोभकी सामग्री है।

फिर भी, कठिन वेदनाकी अवस्थामे भी, इस बातको मैं कभी भी अस्वीकार न करूँगा कि अंग्रेजोंके स्वभावमे उदारता है, विदेशी शासन-कार्यमे अन्य यूरोपियनोंका व्यवहार अंगरेजोंसे भी कृपण और निष्ठुर है। अंगरेज जाति और उसकी शासन-नीतिके सम्बन्धमें वचन और आचरणसे हम जैसी विरुद्धता प्रकट करते है, और किसी जातिके शासनकर्ताओंके सम्बन्धमे वैसा करना सम्भव न होता, और यदि होता भी तो उसकी दण्डनीति और भी बढकर असह्य होती, खास यूरोपमे, यहाँ

तक कि अमेरिकामें भी, इसके प्रमाणोंका अभाव नहीं है। प्रकाश्य रूपसे विद्रोहकी घोषणा करते समय भी, राजपुरुषोंके द्वारा पीडित किये जानेपर हम जब विस्मयके साथ शिकायत करते हैं, तब प्रमाणित हो जाता है कि अगरेज जातिके प्रति हमारी गूढ़ श्रद्धा मार खाते-खाते भी मरना नहीं चाहती। अपने देशी राजा या ज़मींदारोंसे हमें और भी कम आशा है।

इंग्लैण्डमें रहते समय एक बातपर मैंने लक्ष्य किया है कि भारतमें दिये गये कठोर दण्डोंके विषयमें ग्लानिजनक कोई समाचार वहांके अखबारोंमें नहीं पहुंचने पाते। इसका एकमात्र कारण यह नहीं है कि वे डरते हैं कि कहीं यूरोप या अमेरिकामें उनकी निन्दा न होने लगे। वास्तवमें कड़े अगरेज शासनकर्ता अपनी ही जातिकी शुभबुद्धिसे डरते हैं, अगरेजोंके लिए छाती ठोककर यह कहना कि—'अच्छा किया है, ठीक किया है, जरूरत थी जबरदस्ती करनेकी'—सहज नहीं है, कारण, अगरेजोंमें उदार-हृदय मौजूद हैं। भारतके संबंधमें सच्ची बातें बहुत कम अगरेज जानते हैं। वे अपनेको धिक्कारें तो किस बातपर, उसके कारण तो उन तक पहुंचते ही नहीं। यह सच है कि जिसने भारतका नमक बहुत दिनों तक खाया है, उसका अगरेजी यकृत और हृदय कलुषित हो गया है, फिर भी दुर्भाग्यसे वे ही हमारे 'ऑथरिटी' हैं।

भारतमें वर्तमान आन्दोलनके समय जो दमनचक्र चलाया गया है, उसके विषयमें हमारे भाग्य-विधाताओंका कहना है कि वह बहुत ही मामूली था। इस बातको माननेके लिए हम बिलकुल तैयार

नहीं हैं, किन्तु अतीत और वर्तमान शासन-नीतिमे तुलना करनेसे उनकी वातको अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता। हमने मार खाई है, अन्यायपूर्ण मार भी काफी खाई है, और सबसे वढकर कलंककी वात है गुप्त मार, उसकी भी कमी कभी नहीं रही। यह भी कहना पडेगा कि अधिकाश मौकोंपर माहात्म्य उन्हींका है, जिन्होंने मार खाई है; जिन्होंने मारा है, उन्होने अपना सम्मान ही खोया है। परन्तु साधारण राज्य-शासननीतिके आदर्शके अनुसार हमारी मारकी मात्रा अवश्य ही बहुत कम कही जा सकती है। खासकर जब कि हमसे उनका रक्तका कोई सम्बन्ध नहीं था, और दूसरे, समस्त भारतवर्षको 'जालियानवाला बाग' बना डालना बाहुबलकी दृष्टिसे उनके लिए कोई असम्भव बात नहीं थी। अमेरिकाकी समग्र नीग्रो-जाति युक्तराज्यसे अपना सम्बन्ध त्यागनेके लिए स्पर्धापूर्वक आन्दोलन करनेमें जुट जाती, तो कैसे वीभत्स रूपसे खूनकी नदियाँ बहतीं, इस वर्तमान शान्तिकी अवस्थामे भी उसका अनुमान करनेमे ज्यादा कल्पना-शक्तिकी जरूरत नहीं पडेगी। इसके सिवा इटली आदिमे जो हुआ है, उस विपयमे आलोचना करना ही व्यर्थ है।

परन्तु इससे सान्त्वना नहीं मिलती। जो मार लाठीके सिरेपर है, वह मार दो दिन बाद थक जाती है, यहाँ तक कि क्रमश उसका स्वय लज्जित होना कोई असम्भव बात नहीं। परन्तु जो मार भीतर-ही-भीतर अपना काम करती रहती है, वह तो ज्योंकी त्यों बनी ही रहती है, उसका लोप तो होता ही नहीं। समस्त जातिको उसने भीतर-ही-भीतर कगाल कर

दिया है। शताब्दियाँ बीत गईं उसकी गति रुकी नहीं। क्रोधकी मार रुकती है, पर लोभकी मारका अन्त नहीं।

'टाइम्स्' के साहित्यिक क्रोडपत्रमें देखा था, Mackee नामके एक लेखकने लिखा है—"भारतमें दरिद्रताका Root Cause यानी मूल कारण है वहाँके लोगोंका बिना विचारे विवाह करना और उससे अधिक प्रजाका उत्पन्न होना।" इसका भीतरी भाव यह है कि देशके बाहरसे जो शोषण-कार्य चल रहा है, वह इतना दुःसह न होता, यदि थोड़े अनाजसे थोड़ेसे आदमी हँड़िया पोंछ-पाँछकर अपनी गुजर कर लेते। सुनते हैं—इङ्गलैण्डमें सन् १८७१ से लेकर १६२१ तक फी-सदी ६६ आदमियोंकी वृद्धि हुई है। भारतमें पचास वर्षकी प्रजावृद्धिका औसत ३३ फी-सदी है। फिर एक ही मुहूर्तकी यात्रामें पृथक् फल क्यों हुआ? इससे मालूम होता है कि root cause प्रजावृद्धि नहीं, बल्कि मूल करण जीविकाका अभाव है। और उसका root (मूल) कहाँ है?

जो देशपर शासन करते हैं, और जो प्रजा उनके द्वारा शासित होती है, दोनोंका भाग्य यदि एक-सा हो, तो कमसे कम खाने-पहननेके विषयमें शिकायत नहीं हो सकती। अर्थात् सुभिक्ष और दुर्भिक्षमें दोनों ही लगभग समान ही भाग लेते हैं। परन्तु जहाँ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षके बीचमें महालोभ और महासमुद्रका व्यवधान है, वहाँ अमावस्याकी ओर विद्या, स्वास्थ्य, सम्मान और सम्पदकी कंजूसी दूर नहीं हो सकती,

और उसपर भी मजा यह कि निशीथ रात्रिके चौकीदारोंके हाथमें सर्चलाइटका आयोजन बढता ही जाता है। इस बातपर विचार करनेके लिए स्टैटिस्टिक्सकी बहुत ज्यादा नुक्ताचीनीकी जरूरत नहीं पडती कि आज एक-सौ-साठ वर्षसे भारतके भाग्यमें सब विषयोंमें दरिद्रता और ब्रिटेनके भाग्यमे सब विषयोमे ऐश्वर्य-ही-ऐश्वर्य भोग करना बदा है। इसका यदि एक पूरा चित्र अंकित करना चाहू, तो बगालमे जो किसान सन उत्पन्न करते है और सुदूर डडी (स्काटलैंड) मे जो उसका मुनाफा उठाते हैं—दोनो की जीवन-यात्राका दृश्य पास-पास रखकर देखना पडेगा। दोनो मे सम्बन्ध है लोभका, और विच्छेद है भोगका। यह भेद डेढ सौ वर्षोंसे बढता ही रहा है, घटा नहीं।

जबसे यान्त्रिक उपायोंसे अर्थोपार्जनको बहु-गुना बढानेका रास्ता खुल गया, तबसे मध्ययुगका वीरधर्म (शिवलरी) वणिक-धर्ममे परिणत हो गया। इस भीषण वैश्ययुगकी प्रथम सूचना मिली समुद्रयानके द्वारा विश्वपृथिवीके आविष्कारके साथ-साथ। वैश्ययुगकी आदिम भूमिका है दस्युवृत्तिमें। दास-हरण और धन-हरणकी वीभत्सतासे धरित्री उस दिन रो उठी थी। यह निष्ठुर व्यवसाय विशेषत परदेशमें अधिक चलता था। थोडे ही दिन हुए, स्पेनवालोंने मेक्सिकोमे जाकर सिर्फ सोनेकी खानें ही नहीं हडपीं, बल्कि वहाँकी सारी सभ्यताको खूनसे मिटा डाला। उस रक्त-मेघकी आँधी पश्चिमसे भिन्न-भिन्न झोकोमें

भारतमें आने लगी। उसका इतिहास कहना अनावश्यक है। धन सम्पदका स्रोत पूर्व दिशासे पश्चिमकी ओर मुडा।

उसके बादसे पृथिवीपर कुबेरका सिंहासन स्थायी बन गया। विज्ञानने घोषणा कर दी कि यन्त्रका नियम ही विश्वका नियम है, बाह्य सिद्धि-लाभके अतिरिक्त कोई नित्य सत्य नहीं है। प्रतियोगिताकी उग्रता सर्वव्यापी होने लगी, दस्युवृत्तिको भद्रवेशमे सम्मान मिलने लगा। लोभके प्रकट और गुप्त रास्तोंसे कारखानोंमे, खानोंमे और बडी-बडी खेतियोंमें छद्मनामधारी दासवृत्ति, मिथ्याचार और निर्दयता कैसी हिंसक बन गई है, इस विषयमें यूरोपीय साहित्यमे रोमाञ्चकारी वर्णन काफी देखनेमे आते हैं। पाश्चात्य देशोमे जो लोग रुपया कमाते हैं और जो लोग उन्हे उस काममे मदद देते हैं,—अर्थात् धनी और मजदूरोंमें बहुत दिनोसे विरोध चल रहा है। मनुष्यका सबसे बडा धर्म है समाज। लोभ ही उस धर्मका सबसे बडा घातक है। इस युगमें एकमात्र लोभ ही मनुष्यके समाजको झकझोरकर उसके सम्बन्ध-बन्धनोको शिथिल और विच्छिन्न करता जा रहा है।

एक देशमे एक ही जातिके भीतर यह निर्मम धनार्जनका लोभ जो भेद खडा कर देता है, उसमे दुःख चाह जितना भी हो, परन्तु फिर भी वहाँ सुयोग ( चान्स ) का दरवाजा सबके लिए समानरूपसे खुला रहता है, शक्तिमे पार्थक्य हो सकता है, पर अधिकारमें रोक नहीं है। धनकी चक्कीमे आज जो वहाँ पीसा

जा रहा है, फल ही वह पीसनेवाला बन सकता है। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ जो धनियोंके पास धन इकट्ठा होता है, अनेक प्रकारोंसे देशके सभी लोगोंमे उसका कुछ न कुछ अंश अपने आप ही बट जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिपर जातीय सम्पत्तिका भार कुछ-न-कुछ रहता ही है। सर्वसाधारणके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन तथा और भी अनेक तरहके हितकर कार्य—इन सब कामोंके लिए काफी रुपयोंकी जरूरत होती है, और देशकी इन समस्त विचित्र मांगोंको चाहे इच्छासे हो या अनिच्छासे—लक्ष्यत हो चाहे अलक्ष्यत.—धनी लोग पूरा करते ही रहते हैं।

परन्तु भारतके जिस धनसे विदेशी वणिक या राज-कर्मचारी धनी होते हैं, उसका कमसे कम उच्छिष्ट—जो नहींके बराबर होता है—भारतके हिस्सेमे पडता है। सन पैदा करनेवाले किसानोंकी शिक्षा और स्वास्थ्यका अभाव प्यासे चातककी तरह मुँह बाये पडा रहता है, विदेशको जानेवाले मुनाफेमें से उसे कुछ भी नहीं मिलता। जो कुछ गया, वह बिलकुल गया—उसमेंसे कुछ लौट नहीं सकता। सनकी खेती और उसमें से मुनाफा उठानेके लिए ही गाँवके तालाव दूषित किये जाते हैं, किन्तु फिर भी असह्य जलकष्टको दूर करनेमे विदेशी महाजनोंकी भरी जेबमें से एक पाई भी नहीं निकलती। यदि पानीकी व्यवस्था की भी गई, तो उसका सारा खर्चा टैक्सके रूपमें उन्हीं वणिकों द्वारा चूसे जानेवाले गरीब भूखे किसानोंको

ही देना पडता है। सर्वसाधारणको शिक्षा देनेके लिए राजकोपमे रुपये नहीं हैं। क्यों नहीं है? इसका मुख्य कारण है, काफी रुपया भारतको सम्पूर्णत त्यागकर बाहर चला जाता है,—यह है लोभका रुपया, जिससे अपना रुपया भी पूरी तरहसे दूसरेका हो जाता है। अर्थात् पानी सूखता है इस पारके तालाबका और बादल होकर उसकी वर्षा होती है उस पारके देशोंमे। उस देशके अस्पतालो और विद्यालयोके लिए यह अभागा अशिक्षित अस्वस्थ मुमूर्षु भारतवर्ष हमेशा अप्रत्यक्ष रूपसे रसद जुटाता आ रहा है।

देशवासियोंकी शारीरिक और मानसिक अवस्थाका चरम दु ख-दृश्य बहुत दिनोंसे अपनी आँखोंसे देखता आ रहा हू। दरीद्रतासे मनुष्य सिर्फ मरता ही नहीं, बल्कि अपनेको अवज्ञाके योग्य बना लेता है, इसीलिए जान साइमनने कहा है —

"In our view the most formidable of the evils from which India is suffering have their roots in social and economic customs of long-standing which can only be remedied by the action of the Indian people themselves"

यह अवज्ञाकी बात है। भारतकी आवश्यकताओंपर वे जिस आदर्शसे विचार कर रहे हैं, वह उनका अपना आदर्श नहीं है। अधिकसे अधिक धन-सम्पत्ति उपार्जन करनेके लिए जैसी शिक्षा, जसी सुविधाएँ, जैसी स्वाधीनता उन्हें प्राप्त हैं— जिन सुविधाओंसे उनकी जीवन-यात्राका आदश ज्ञान-कर्म-भोग

आदि अनेक दिशाओंसे काफी पुष्ट हो चुका है—जीर्णवस्त्र शीर्ण-शरीर रोगक्लान्त शिक्षा-वंचित भारतके लिए वैसी शिक्षा, वैसी स्वाधीनता और वैसी सुविधाओंके आदर्शको वे कल्पनामें भी नहीं लाते, बल्कि वे तो यह चाहते हैं कि हम किसी तरह अपनी सख्या-वृद्धिको रोककर दिन काटें और खर्च घटायें और अपनी आजीविकाका गला घोंटकर उनकी जीविकाका जो बढ़ा हुआ आदर्श है, उसका भारी बोझ हमेशा ढोते रहें, जिससे वह ज्योंका त्यों बना रहे। इससे ज्यादा कुछ विचारनेकी जरूरत नहीं, अतएव रेमेडी (इलाज) की पूरी जिम्मेदारी हमारे ही हाथमें है, जिन लोगोंने रेमेडीको दु साध्य कर डाला है, उनके लिए विशेप कुछ करना नहीं है।

मनुष्य और विधाताके विरुद्ध इन सब अभियोगोंको स्थगित रखकर ही मैं अन्तरग दृष्टिसे अपने निर्जीव गाँवोंमें प्राण सचार करनेके लिए अपनी अत्यन्त क्षुद्र शक्तिका कुछ दिनोंसे प्रयोग कर रहा हू। इस कार्यमें सरकारकी अनुकूलताकी मैंने उपेक्षा नहीं की, बल्कि उसकी मैंने इच्छा ही की है। परन्तु कुछ फल नहीं मिला, कारण वहाँ दर्द नहीं है—सहानुभूति नहीं है। और दर्द होना सम्भव भी नहीं,—कारण, हमारी अक्षमताने—हमारी हर तरहकी दुर्दशाने हमारी माँगको बहुत कमजोर बना दिया है। देशके किसी यथार्थ करने योग्य कार्यमें सरकारके साथ हमारे कार्यकर्ताओंका उचित सहयोग-सम्बन्ध होना मुझे तो असम्भव-सा मालूम होता है। इसलिए, यही स्थिर रहा कि चौकीदारोंकी वर्दीका खर्च पूरा करके हमारे

पास जितनी भी कौडी बचें, उनसे जो काम हो सकता है उतना ही काम करें।

मैं ऐसे समयमे रूस गया था, जब कि भारतके राजकीय लोभ और उससे उत्पन्न असह्य उदासीनताके रूपने मेरे हृदयमें निराशाका अन्धकार फैला रखा था। यूरोपके अन्याय देशोंमे ऐश्वर्यका काफी आडम्बर देखा है, वह इतना अधिक ऊचा है कि देशकी ईर्ष्या भी उसकी ऊचाई तक नहीं पहुच सकती। रूसमें भोगका वैसा समारोह बिलकुल नहीं, शायद इसीलिए उसका भीतरी रूप देखना सहज था।

भारतवर्ष जिससे बिलकुल ही वचित है, यहाँ उसीके आयोजनको सर्वव्यापी बनानेका प्रबल प्रयास हो रहा है, और उसे मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। कहना न होगा कि मैंने अपनी उस बहुत दिनोकी भूखी दृष्टिसे सब देखा है। पश्चिम महादेशके अन्य किसी भी स्वाधिकार-सौभाग्यशाली देशवासीकी दृष्टिमे यह दृश्य कैसा लगेगा, इस बातका ठीक-ठीक विचार करना मेरे लिए सम्भव नहीं। अतीत कालमे भारतका कितना धन ब्रिटिश द्वीपको रवाना हो गया है और वर्तमानमे नाना प्रणालियोंसे प्रतिवर्ष कितना जा रहा है, इस विषयमें सख्या-सम्बन्धी तर्क मैं नहीं करना चाहता। परन्तु म तो स्पष्ट देख रहा हू—और बहुतसे अगरेज भी इस बातको स्वीकार करते हैं—कि हमारे देशका शरीर रक्तहीन हो गया है और उसका हृदय बिलकुल दब गया है, जीवनमे न तो आनद है, न सुख, हम भीतर बाहर

पीडित थे, और अनेक विषयोंमे जिनका दु:खभार हमसे भी ज्यादा था, उनमे ही आज शिक्षाका प्रचार इन थोडे ही वर्षोंमें इतना अधिक हो गया है कि डेढ सौ वर्षमें भी हमारे देशके उच्च श्रेणीके लोगो मे उतना नहीं हुआ। हम अपने दरिद्राणा मनोरथ—स्वदेशकी शिक्षा—के सम्बन्धमे जिस दुराशाका चित्र मरीचिकाके पटपर भी नहीं खींच सकते, यहाँ उसका प्रत्यक्ष रूप दिगन्तसे लेकर दिगन्त तक विस्तृत देखा।

मैं अपनेसे बार-बार यह प्रश्न करता हू कि इतना बडा आश्चर्यजनक कार्य हुआ तो हुआ कैसे? हृदयमे इसका उत्तर मुझे यों मिला है कि वहाँ लोभकी बाधा कहीं भी नहीं है, इसीलिए हुआ। इस बातको विचारनेमें कहीं भी खटका नहीं होता कि शिक्षाके द्वारा सभी मनुष्य यथोचित शक्तिवान् हो जायँगे। दूर एशियाके तुर्कमेनिस्तान-वासी प्रजाओंको भी पूरी तौरसे शिक्षा देनेमे इनको जरा भी खटका नहीं, बल्कि प्रबल आग्रह है। वे सिर्फ रिपोर्टमे इस बातका उल्लेख करके उदासीन होकर नहीं बैठे कि तुर्कमेनिस्तानवासियोके दु:ख-कष्टोंके कारण उन्हींकी सामाजिक रूढियोमे मौजूद हैं।

कोचिन-चायनामें शिक्षा-विस्तारके सम्बन्धमे सुना है कि किसी फ्रासीसी पाडित्यव्यवसायीने कहा है कि भारतमें अगरेजोने देशी लोगोंको (भारतीयोंको) शिक्षा देकर जो भूल की है, फ्रान्स वैसी भूल वहाँ न कर बैठे। यह बात माननी ही पडेगी कि अगरेजोंके चरित्रमे ऐसा एक महत्त्व है, जिसके लिए विदेशी



V O K S के प्रेसिडेन्ट प्रो० पेट्रूम और रवीन्द्रनाथ

शासन-नीतिमें वे कुछ-कुछ गलतियाँ कर ही बैठते हैं, शासनकी गफ बुनावटमें कहीं-कहीं सूत टूट ही जाता है, नहीं तो प्रतिवादके लिये हमारी जबान खुलनेमें शायद और भी एकआध शताब्दीकी देर हो जाती।

इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षाके अभावसे ही अशक्ति या असामर्थ्य अटल बनी रहती है, अतएव अशिक्षा पुलिसके डंडोंसे कम बलवान नहीं है। मालूम होता है, लार्ड कर्जनने इस बातको कुछ-कुछ महसूस किया था। शिक्षा देनेके सम्बन्धमें उक्त फ्रांसीसी पाण्डित्यव्यवसायी अपने देशकी आवश्यकताओं या स्वार्थका जिस आदर्शसे विचार करते हैं, शासित देशकी आवश्यकताओंपर उस आदर्शसे विचार नहीं करते। इसका एकमात्र कारण है लोभ। जो लोभके वाहन हैं, उनके मनुष्यत्वकी वास्तविकता लोभीके लिए अस्पष्ट है, उनकी माँगको हम स्वभावत ही कुछ नहीं समझते। जिनके साथ भारतके शासनका सम्बन्ध है, उनके सामने भारत आज डेढ सौ वर्षसे छोटा है—नाचीज है। इसीलिए उसकी मर्मगत आवश्यकताओंपर ऊपरवालोंका उपेक्षाभाव दूर नहीं हुआ। हम क्या खाते हैं, किस पानीसे हमारी प्यास मिट सकती है, कैसी गहरी अशिक्षासे हमारा चित्त अन्धकारपूर्ण है—इन बातोंपर आज तक अच्छी तरह उनकी दृष्टि नहीं गई। क्योंकि उनके लिए यही मुख्य बात है कि हम ही उनकी आवश्यकीय वस्तु हैं,—और हमारे लिए भी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताएँ हो सकती हैं, यह बात उनके लिए

फालतू है। इसके सिवा हम इतने नाचीज, इतने तुच्छ
हुए हैं कि हमारी आवश्यकताओंका सम्मान करना उनके
असम्भव है।

भारतकी जैसी कठिन समस्या है, जिससे कि हम
तक तन-मन-धनसे मर रहे हैं, ऐसी पाश्चात्य देशोंमे कहीं
नहीं है। वह समस्या यह है कि भारतका समस्त
दो भागोंमे बाँट दिया गया है और सत्यानासी विभागके
है लोभ। इसीलिए, रूसमे आकर जब इस लोभको ति
होते देखा, तो उससे मुझे जितना गहरा आनन्द हुआ,
शायद दूसरेको न होता। फिर भी मूल बातको
अलग नहीं कर सकता, वह यह कि आज जो केवल भ
ही नहीं, बल्कि सारे ससारमे ही किसी-न-किसी बडी विप
जाल बिछा दिखाई देता है, उसकी प्रेरणा है लोभ।
किसीको कोई भय है तो उस लोभका ही है, सशय है
उस लोभका है, जितनी भी अस्त्र-शस्त्रोंकी तैयारियाँ हैं, जि
भी मिथ्याचरण और निष्ठुर राजनीति है, सब लोभके लि

और एक तर्कका विषय है डिक्टेटरशिप, यानी राज
कार्योंमें नायकतत्रका झगडा। किसी भी विषयमें नायक-प
मैं स्वय पसद नहीं करता। हानि या दडके भयको
रखकर अथवा भाषा तथा हावभाव या व्यवहारमें जिद पकड़
अपने मतके प्रचारके रास्तेको बिलकुल साफ करनेकी चेष्टा
कभी भी अपने कार्यक्षेत्रमे नहीं कर सका।' इसमें सन्देह नहीं

एकनायकतामें विपत्तियाँ बहुत हैं, उसकी क्रियाकी एकतानता और नित्यता अनिश्चित है चलानेवाले और चलनेवालों के बीच इच्छाका असम्पूर्ण योग (मेल) होनेसे विद्रोहके कारण हमेशा बने ही रहेंगे, इसके सिवा बलपूर्वक चलाये जानेका अभ्यास चित्त और चरित्रके बलको घटाता है, इसकी सफलता एक ओर जहाँ बाहरसे दो-चार फसलोंसे अंजलि भर देती है, वहाँ दूसरी ओर उसकी भीतरी जड़को सुखा देती है।

जनताका भाग्य यदि उनकी सम्मिलित इच्छाके द्वारा ही न बने और न पनपे, तो वह उनके लिए निरा पिंजड़ा बन जाता है, दाना-पानी वहाँ अच्छा भी मिल सकता है, पर उसे नीड़ (घोसला) नहीं कहा जा सकता,—वहाँ रहते-रहते उसके पंखोंमें लकवा मार जाता है। यह नायकता चाहे शास्त्रोंमें हो, चाहे गुरुओंमें, और चाहे राष्ट्र नेताओंमें, मनुष्यत्वको हानि पहुँचानेवाला ऐसा उपद्रव और कुछ हो ही नहीं सकता।

हमारे समाजमें इस नपुंसकत्वकी सृष्टि युगोंसे होती आई है और इसका फल रोजमर्रा देखता आया हूँ। महात्माजीने जब कहा था कि विदेशी कपड़ा अपवित्र है, तब मैंने इसका प्रतिवाद किया था, कहा था कि विदेशी कपड़ा आर्थिक दृष्टिसे हानिकर हो सकता है, पर अपवित्र नहीं हो सकता। परन्तु हमें जो शास्त्रके आधारपर चलनेवाले अन्ध-चित्तको समझाना है, नहीं तो काम नहीं हो सकता,—मनुष्यत्वका ऐसा चिरस्थायी

अपमान और क्या हो सकता है? नायक-चालित देश इसी प्रकार मोहाच्छन्न हुआ करता है,—एक जादूगर जहाँ विदा हुआ, वहाँ दूसरा जादूगर आकर नया मंत्र बनाकर लोगोंको मोह लेता है।

डिक्टेटरशिप एक आफत है, इस बातको मैं मानता हूं, और उस आफतसे आज रूसमें अनेक अत्याचार हो रहे हैं, इस बातपर भी मैं विश्वास करता हूं। इसकी नञर्थक दिशा जबरदस्तीकी दिशा है, वह पाप है। परन्तु सदर्थक दिशा, जो कि शिक्षाकी दिशा है, जबरदस्तीसे बिलकुल उलटी है।

देशको सौभाग्यशाली बनानेमें साधारण जनताका हृदय सम्मिलित होना चाहिए, तभी उसकी क्रिया सजीव और स्थायी होती है। अपने एकनायकत्वके लोभमें जो लुब्ध हैं, अपने हृदयको छोड़कर अन्य समस्त हृदयोंको अशिक्षाके द्वारा जड़ बनाये रखना ही उनकी अभिप्राय-सिद्धिका एक मात्र उपाय है। जारके राजत्वकालमें शिक्षाके अभावसे जनता मोहाच्छन्न थी, उसपर सर्वव्यापी धर्ममूढ़ताने अजगर सर्पकी तरह उसके चित्तको सैकड़ों लपेटोंसे जकड़ रखा था। उस मूढ़ताको सम्राट् बड़ी आसानीसे अपने काममें लगा सकते थे। उस जमानेमें यहूदियोंके साथ ईसाइयोंका और मुसलमानोंके साथ आरमीनियोंका सब तरहका वीभत्स उपद्रव धर्मके नामपर अनायास ही हो सकता था। तब ज्ञान और धर्मके मोहमें आत्मशक्ति-हीन शिथिल और कई भागोंमें विभक्त देश बाहरके शत्रुओंके सामने सहज ही प्रभावित

हो गया था। एकनायकत्वके चिराधिपत्यके लिए ऐसी अनुकूल अवस्था और कोई भी नहीं हो सकती।

पहले जैसी रूसकी अवस्था थी, वैसी अवस्था हमारे देशमें बहुत दिनोंसे मौजूद है। आज हमारा देश महात्माजीके चालकत्व या नायकत्वके वशमें हो गया है, कल वे नहीं रहेंगे, तब इस नायकत्वके इच्छुक लोग उसी तरह अकस्मात् दिखाई देते रहेंगे, जिस तरह हमारे देशमें धर्म-मोहितोंके सामने नये-नये अवतार और गुरु जहाँ-तहाँ उठ खड़े होते हैं। चीन देशमें आज नायकत्वको लेकर कुछ क्षमता-लोभी जबरदस्तोंमें निरन्तर प्रबल संघर्ष चल ही रहा है। कारण सर्वसाधारणमें वह शिक्षा ही नहीं है, जिससे वे अपनी सम्मिलित इच्छाके द्वारा देशका भाग्य स्वयं गढ़ सकें, इसीलिए आज उनका सारा देश नष्टभ्रष्ट हुआ जा रहा है। हमारे देशमें उस नायक-पदको लेकर तनातनी या छीना-झपटी न होगी, ऐसा मैं तो नहीं समझता—तब घासकी तरह दलित-विदलित होकर गरीब ही बेचारे मरेंगे, उसका बुरा परिणाम जो कुछ होगा, उसका फल भुगतना पड़ेगा साधारण जनताको ही।

रूसमें भी आजकल नायकका प्रबल शासन देखनेमें आ रहा है। परन्तु इस शासनने अपनेको चिरस्थायी बनानेका मार्ग नहीं पकड़ा। एक दिन वह मार्ग पकड़ा था जारके शासनने—अशिक्षा और धर्ममोहसे जनसाधारणके मनको प्रभावित करके और चाबुकोंसे उनके पौरुषको शिथिल करके। फिलहाल रूसका

शासनदंड निश्चल है, ऐसा मैं नहीं समझता, किन्तु शिक्षा-प्रचारका उद्यम असाधारण है। इसका कारण यह है कि उसमें व्यक्तिगत या दलगत किसी तरहका धनका लोभ या क्षमता पानेकी लालसा नहीं है। एक खास अर्थनैतिक मतके अनुसार सर्वसाधारणको दीक्षित करके—जाति, वर्ण और श्रेणीका किसी प्रकारका भेदभाव न रखते हुए—सबको मनुष्य बना डालनेकी दुर्निवार इच्छा इनमे अवश्य है। यदि वह न होती, तो फ्रासीसी विद्वानकी बात माननी पडती कि शिक्षा देना एक बडी-भारी गलती है।

उनकी यह अर्थनैतिक मत पूरी तौरसे स्वीकार है या नहीं, इसपर विचार करनेका समय अभी नहीं आया—क्योकि यह मत अब तक मुख्यत केवल पोथियोंमे ही बद पडा था, ऐसे बडे क्षेत्रमे इतने बडे साहसके साथ उसे मुक्ति कभी नहीं मिली। जिस प्रबल लोभके कारण इस मतको शुरूसे ही घातक बाधाओंका सामना करना पडा है, उस लोभको ही इन लोगोंने कठोरताके साथ हटा दिया है। परीक्षाओंके भीतरसे परिवर्तन होते-होते इस मतका कितना अश कहा जाकर स्थायी होगा, इसका निश्चित उत्तर अभी कोई नहीं दे सकता। परन्तु यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि रूसकी सर्वसाधारण प्रजाको इतने दिनो बाद जो शिक्षा अधिकतासे और अनिवार्यरूपसे मिल रही है, उससे उनके मनुष्यत्वका उत्कर्ष और सम्मान स्थायी हो गया है।

वर्तमान रूसमें निष्ठुर शासनकी जनश्रुति हमेशा ही सुननेमें ती है,—हो सकता है कि यह बात असम्भव न हो। ठुर शासनकी धारा वहाँ हमेशासे बहती आई है, सहसा का सर्वथा नाश न होना स्वाभाविक है। फिर भी वहाँ ओंसे, सिनेमाओंसे, इतिहासकी व्याख्याओसे पुराने ज़मानेके र शासन और अत्याचारोंको सोवियट-सरकार बराबर सबके ने रख रही है। यह सरकार यदि स्वय भी इस तरहके ठुर मार्गपर चलती है, तो लोगोंमें निष्ठुर व्यवहारके प्रति ी अधिक घृणा पैदा कर देना, और कुछ नहीं तो, अद्भुत ज़रूर है। सिराजउद्दौलाकी काली कोठरीकी नृशसताको सिनेमा आदि द्वारा सर्वत्र लज्जित किया जाता, तो उसके -ही-साथ जालियानवाला-बागके हत्याकाडको कमसे कम ना कहनेमें कोई दोष न होता। क्योंकि ऐसी दशामें विमुख अस्त्रधारीको ही लगेगा।

सोवियट रूसमें कार्ल मार्क्सकी अर्थनीतिके कारण प्रजाकी ारबुद्धिको एक साँचेमें ढालनेका जबरदस्त प्रयत्न हो रहा और उस जिदके कारण इस विषयमें स्वतत्र आलोचनाका ा जोरके साथ रोक दिया गया है। इस अपवादको मैं समझता हू। कुछ दिन पहले यूरोपके महायुद्धके समय तरह मुँह बद करना और गवर्मेन्टकी नीतिके विरुद्ध नेवालोके मत-स्वातन्त्र्यको जेलखाने या फाँसीके तख्तेपर चढाकर क अन्त कर देनेकी चेष्टा की गई थी।

शासनदंड निश्चल है, ऐसा मैं नहीं समझना, किन्तु शिक्षा-प्रचारका उद्यम असाधारण है। इसका कारण यह है कि उसमें व्यक्तिगत या दलगत किसी तरहका धनका लोभ या क्षमता पानेकी लालसा नहीं है। एक खास अर्थनैतिक मतके अनुसार सर्वसाधारणको दीक्षित करके—जाति, वर्ण और श्रेणीका किसी प्रकारका भेदभाव न रखते हुए—सबको मनुष्य बना डालनेकी दुर्निवार इच्छा इनमे अवश्य है। यदि वह न होती, तो फ्रांसीसी विद्वानकी बात माननी पडती कि शिक्षा देना एक बडी-भारी गलती है।

उनको यह अर्थनैतिक मत पूरी तौरसे स्वीकार है या नहीं, इसपर विचार करनेका समय अभी नहीं आया—क्योंकि यह मत अब तक मुख्यत केवल पोथियोंमें ही बद पडा था, ऐसे बडे क्षेत्रमे इतने बड़े साहसके साथ उसे मुक्ति कभी नहीं मिली। जिस प्रबल लोभके कारण इस मतको शुरूसे ही घातक बाधाओंका सामना करना पडा है, उस लोभको ही इन लोगोने कठोरताके साथ हटा दिया है। परीक्षाओंके भीतरसे परिवर्तन होते-होते इस मतका कितना अश कहां जाकर स्थायी होगा, इसका निश्चित उत्तर अभी कोई नहीं दे सकता। परन्तु यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि रूसकी सर्वसाधारण प्रजाको इतने दिनों बाद जो शिक्षा अधिकतासे और अनिवार्यरूपसे मिल रही है, उससे उनके मनुष्यत्वका उत्कर्ष और सम्मान स्थायी हो गया है।

वर्तमान रूसमे निष्ठुर शासनकी जनश्रुति हमेशा ही सुननेमें ती है,—हो सकता है कि यह बात असम्भव न हो। ठुर शासनकी धारा वहाँ हमेशासे बहती आई है, सहसा का सर्वथा नाश न होना स्वाभाविक है। फिर भी वहाँ ोंसे, सिनेमाओंसे, इतिहासकी व्याख्याओंसे पुराने ज़मानेके र शासन और अत्याचारोंको सोवियट-सरकार बराबर सबके ने रख रही है। यह सरकार यदि स्वय भी इस तरहके ठुर मार्गपर चलती है, तो लोगोंमे निष्ठुर व्यवहारके प्रति ी अधिक घृणा पैदा कर देना, और कुछ नहीं तो, अद्भुत जरूर है। सिराजउद्दौलाकी काली कोठरीकी नृशसताको सिनेमा आदि द्वारा सर्वत्र लज्जित किया जाता, तो उसके -ही-साथ जालियानवाला-बागके हत्याकाडको कमसे कम ा कहनेमें कोई दोष न होता। क्योंकि ऐसी दशामे विमुख अस्त्रधारीको ही लगेगा।

सोवियट रूसमें कार्ल मार्क्सकी अर्थनीतिके कारण प्रजाकी रबुद्धिको एक साँचेमे ढालनेका जबरदस्त प्रयत्न हो रहा और उस जिदके कारण इस विषयमे स्वतत्र आलोचनाका जोरके साथ रोक दिया गया है। इस अपवादको मैं समझता हू। कुछ दिन पहले यूरोपके महायुद्धके समय तरह मुँह बद करना और गवर्मेन्टकी नीतिके विरुद्ध वालोके मत-स्वातन्त्र्यको जेलखाने या फाँसीके तख्तेपर चढाकर अन्त कर देनेकी चेष्टा की गई थी।

जहाँ शीघ्र ही फल-प्राप्तिका लोभ अत्यंत प्रबल है, वहाँ राष्ट्रनायक मनुष्यके मत-स्वातन्त्र्यके अधिकारको स्वीकार नहीं करना चाहते। वे कहते हैं कि ये सब बातें पीछे होंगी, फिलहाल काम सिद्ध करना चाहिए। रूसकी अवस्था युद्धकालकी अवस्था है, भीतर और बाहर सर्वत्र शत्रु मौजूद हैं। वहाँकी समस्त परीक्षाओंको नष्ट कर देनेके लिए आज चारो ओर छल-बलसे काम लिया जा रहा है। इसीसे वे अपने निर्माण-कार्यकी नींवको जहाँ तक हो, जल्दी पक्की कर लेना चाहते हैं, और इसीलिए वे बल-प्रयोग करनेमे हिचकिचाते नहीं हैं। परन्तु मतलब चाहे कितना ही जरूरी क्यों न हो, 'बल' हमेशा इकतरफा चीज है। उससे बिगड़ता ही है, बनता नहीं। सृष्टि या गठनकार्यमे दो पक्ष होते हैं, उपादानको अपने पक्षमे लाना ही होगा—मार-पीटकर नहीं, बल्कि उसके नियमको स्वीकार करके।

रूस जिस काममे लगा हुआ है, वह काम युगान्तरका मार्ग तैयार करना है, उसके लिए पुराने विधि-विश्वासोंकी जड़ोंको पहलेकी जमीनसे उखाड़ फेंकना और चिर-अभ्यस्त आरामोंका तिरस्कार करना पड़ता है। ऐसा तोड़-फेंकनेका उत्साह जिस भँवरकी सृष्टि करता है, उसके चक्रमे आ जानेपर मनुष्यको अपनी मत्तताका अन्त नहीं मिलता—फिर तो उसकी स्पर्धा और हिम्मत बढ़ जाती है, मानव-प्रकृतिकी साधना करके उसे वश करनेकी आवश्यकताको वह भूल जाता है, समझता है

कि उसके आश्रयसे जबरदस्ती छीनकर ले जानेसे—सीताहरण जैसी घटना कर डालनेसे—उसको प्राप्त किया जा सकता है। उसके बाद लंकामें भले ही आग लग जाय, उसकी चिन्ता नहीं। पर्याप्त समय लेकर स्वभावके साथ समझौता करनेके लिए जिनके पास धैर्य नहीं है, वे उपद्रवमें विश्वास रखते हैं, और अन्तमें वे ठोंक-पीटकर रात-ही-रातमें जिस चीजको गढ डालते हैं, उसके भरोसे काम नहीं चलता और न वह अधिक दिनों तक स्थायी ही रहती है।

जहाँ आदमी तैयार नहीं हैं, जहाँ लोकमत तैयार नहीं हुआ है, वहाँके उग्र दण्डनायकोंपर मेरा विश्वास नहीं है। पहला कारण यह है कि अपने मतके विषयमें शुरूमें ही पूरा विश्वास कर लेना सुबुद्धि नहीं है, उसे कार्यरूपमें परिणत करते-करते ही उसका परिचय मिलता है। उधर जो नेता धर्मतन्त्रके समय शास्त्र-वाक्योंको नहीं मानते, इधर उन्हें ही देखता हूं कि अर्थतन्त्रके समय वे शास्त्र मानकर अटल बने बैठे हैं। उस शास्त्रके साथ—जैसे बनता है वैसे, टाँटी दाबकर, चोटी पकडकर—मनुष्यको मिलाना चाहते हैं, फिर वे इस बातको भी भूल जाते हैं कि 'मार-पीटकर महरापर बैठाओ भी, तो हुर्र नहीं होती'—वह कभी सत्य नहीं हो सकता। वास्तवमें देखा जाय तो जहाँ जितनी ज्यादा जबरदस्ती होती है, वहाँ उतना ही कम सत्य होता है।

यूरोपमें जब ईसाई शास्त्र-वाक्योंपर लोगोंका जबरदस्त विश्वास था, तब मनुष्यके हाड-गोड तोडकर, उसे जलाकर,

नोचकर, झकझोरकर धर्मकी सत्यता प्रमाणित करनेकी कोशिश चलती रहती थी। आज बोलशेविक-मतवादके विषयमें उसके विरोधी और समर्थक दोनो ही पक्ष उसी तरहकी जबरदस्त सीनाजोरीकी युक्तियोंका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। दोनों ही पक्ष एक दूसरेकी यह शिकायत करते हुए पाये जाते हैं कि मनुष्यके विचार-स्वातन्त्र्यके अधिकारको दबाया जा रहा है। बीचमें पडी पश्चिम-महादेशकी मानव-प्रकृति बेचारी आज दोनों ओरसे पिसी जा रही है।

सोवियट रूसकी लोक-शिक्षाके सम्बन्धमे मेरा जो वक्तव्य है, वह मैं कह चुका। इसके सिवा इस बातकी भी आलोचना कर चुका हू कि वहांकी राजनीति मुनाफा-लोलुपोके लोभसे कलुषित नहीं है, और इसलिए उन्होने रूसराष्ट्रके अन्तर्गत अनेक प्रकारकी प्रजाको—जाति और वर्णका किसी प्रकार भेदभाव न रखकर सबको—समान अधिकार और उत्कृष्ट शिक्षाकी सुविधाएँ देकर सम्मानित किया है। मैं ब्रिटिश भारतकी प्रजा हू, और इसीलिए रूसके इस कार्यसे मुझे इतना गहरा आनन्द हुआ है।

अब मैं समझता हू कि एक अन्तिम प्रश्नका उत्तर मुझे देना पडेगा। बोलशेविक अर्थनीतिके सम्बन्धमे मेरा क्या मत है, यह प्रश्न बहुतसे लोग मुझसे किया करते हैं। मुझे डर इस बातका है कि भारतवर्ष हमेशासे शास्त्र-शासित और पडा-चालित देश रहा है, विदेशसे आये हुए वचनोंको एकदमसे वेदवाक्य मान लेनेकी ओर ही हमारे मुग्ध हृदयका झुकाव है।

गुरुमन्त्रके मोहसे अपनेको सम्हालकर हमें कहना चाहिए कि प्रयोगके द्वारा ही मतका विचार हो सकता है, अभी तक परीक्षा खतम नहीं हुई है। कोई भी मनुष्य-सम्बन्धी मतवाद क्यों न हो, उसका मुख्य अंग है मानव-प्रकृति। इस मानव-प्रकृतिके साथ मतवादका कहाँ तक सामंजस्य हो सकता है, इस विषयमें पक्का सिद्धान्त होनेमें समय लगता है। तत्त्वको सम्पूर्णतः ग्रहण करनेके पहले कुछ ठहरना या समय देना पड़ता है। मगर फिर भी उस विषयमें आलोचना की जा सकती है, और वह सिर्फ लॉजिक या गणितपर ही नहीं—बल्कि मानव-प्रकृतिको सामने रखकर।

मनुष्यमें दो दिशाएं हैं—प्रथमतः वह स्वतंत्र है, दूसरे वह सबके साथ सम्बन्ध-युक्त है। इनमें से एकको छोड़ देनेपर जो बाकी बचे, वह अवास्तविक है। जब किसी एक धुनमें पड़कर मनुष्य एक ही ओर एकान्तरूपसे लापता हो जाता है, और अपना वजन नष्ट करके तरह-तरहकी विपत्तियाँ लाता रहता है, तब सलाहकार आकर संकटको हलका करना चाहते हैं, कहते हैं कि दूसरी दिशाको एकदम छाँटकर निकाल दो। व्यक्ति-स्वातंत्र्य जब उत्कट स्वार्थका रूप धारण करके समाजमें तरह-तरहके उपद्रव मचाता है, तब उपदेशक लोग कहते हैं—'स्वार्थ' से 'स्व' को एक ही वारमें गंडासेसे उड़ा दो, तब सब ठीक हो जायगा। इससे उपद्रव घट सकता है, मगर उसका नाश नहीं हो सकता। लगाम टूट जानेपर घोड़ा गाड़ीको

नोंचकर, झकझोरकर धर्मको सत्यता प्रमाणित करनेकी कोशिश चलती रहती थी। आज बोलशेविक-मतवादके विषयमें उसके विरोधी और समर्थक दोनों ही पक्ष उसी तरहकी जबरदस्त सीनाजोरीकी युक्तियोंका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। दोनों ही पक्ष एक दूसरेकी यह शिकायत करते हुए पाये जाते हैं कि मनुष्यके विचार-स्वातन्त्र्यके अधिकारको दबाया जा रहा है। बीचमे पडी पश्चिम-महादेशकी मानव-प्रकृति बेचारी आज दोनों ओरसे पिसी जा रही है।

सोवियट रूसकी लोक-शिक्षाके सम्बन्धमे मेरा जो वक्तव्य है, वह मैं कह चुका। इसके सिवा इस बातकी भी आलोचना कर चुका हू कि वहांकी राजनीति मुनाफा-लोलुपोंके लोभसे कलुषित नहीं है, और इसलिए उन्होंने रूसराष्ट्रके अन्तर्गत अनेक प्रकारकी प्रजाको—जाति और वर्णका किसी प्रकार भेदभाव न रखकर सबको—समान अधिकार और उत्कृष्ट शिक्षाकी सुविधाएँ देकर सम्मानित किया है। मैं ब्रिटिश भारतकी प्रजा हू, और इसीलिए रूसके इस कार्यसे मुझे इतना गहरा आनन्द हुआ है।

अब मैं समझता हू कि एक अन्तिम प्रश्नका उत्तर मुझे देना पडेगा। बोलशेविक अर्थनीतिके सम्बन्धमे मेरा क्या मत है, यह प्रश्न बहुतसे लोग मुझसे किया करते हैं। मुझे डर इस बातका है कि भारतवर्ष हमेशासे शास्त्र-शासित और पढा-चालित देश रहा है, विदेशसे आये हुए वचनोंको एकदमसे वेदवाक्य मान लेनेकी ओर ही हमारे मुग्ध हृदयका झुकाव है।

गुरुमत्रके मोहसे अपनेको सम्हालकर हमे कहना चाहिए कि प्रयोगके द्वारा ही मतका विचार हो सकता है, अभी तक परीक्षा खतम नहीं हुई है। कोई भी मनुष्य-सम्बन्धी मतवाद क्यों न हो, उसका मुख्य अग है मानव-प्रकृति। इस मानव-प्रकृतिके साथ मतवादका कहाँ तक सामजस्य हो सकता है, इस विषयमे पक्का सिद्धान्त होनेमें समय लगता है। तत्त्वको सम्पूर्णत ग्रहण करनेके पहले कुछ ठहरना या समय देना पडता है। मगर फिर भी उस विषयमे आलोचना की जा सकती है, और वह सिर्फ लॉजिक या गणितपर ही नहीं— बल्कि मानव-प्रकृतिको सामने रखकर।

मनुष्यमे दो दिशाएं है—प्रथमत वह स्वतन्त्र है, दूसरे वह सबके साथ सम्बन्ध-युक्त है। इनमें से एकको छोड देनेपर जो बाकी बचे, वह अवास्तविक है। जब किसी एक धुनमे पडकर मनुष्य एक ही ओर एकान्तरूपसे लापता हो जाता है, और अपना वजन नष्ट करके तरह-तरहकी विपत्तियाँ लाता रहता है, तब सलाहकार आकर सकटको हलका करना चाहते हैं, कहते हैं कि दूसरी दिशाको एकदम छाँटकर निकाल दो। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जब उत्कट स्वार्थका रूप धारण करके समाजमे तरह-तरहके उपद्रव मचाता है, तब उपदेशक लोग कहते हैं— 'स्वार्थ' से 'स्व' को एक ही बारमें गडासेसे उडा दो, तब सब ठीक हो जायगा। इसमे उपद्रव घट सकता है, मगर उसका नाश नहीं हो सकता। लगाम टूट जानेपर घोडा

खंदकमे डाल देता है,—इसलिए घोडेको गोलीसे उडा दिया जाय तो फिर गाडी ठीकसे चलेगी, ऐसा ख़याल न करके लगाम ठीक करनेकी चिन्ता करना ही बुद्धिमत्ता है।

शरीरसे पृथक्-पृथक् अस्तित्व होनेसे ही मनुष्य छीना-झपटी किया करता है, परन्तु समस्त मनुष्योंको एक रस्सीमें बाँधकर सारी पृथिवीमें उसे एक ही विपुल कलेवरमे लानेका प्रस्ताव करना—यह बात तो किसी बलसे गर्वित अर्थतात्त्विक जारके मुखसे ही शोभा देती है। विधाताकी विधिको बिलकुल जडसे उखाड फेंकनेकी चेष्टामे जितना साहस है, उससे कहीं ज्यादा उसमें मूढताकी जरूरत पडती है।

एक दिन ऐसा था, जब भारतवर्षका समाज मुख्यत ग्रामीण समाज था। इस तरहके घनिष्ठ ग्राम्य समाजमें व्यक्तिगत सम्पत्तिके साथ सामाजिक सम्पत्तिका सामंजस्य होता था। लोकमतका ऐसा प्रभाव था कि धनी अपने धनको सम्पूर्णत अपने भोगम लगानेमे अपना अगौरव समझते थे। समाज उसकी सहायता-सहानुभूति ग्रहण करता था, तभी वह कृतार्थ होता था—अर्थात् अगरेजीमे जिसे चॅरिटी कहते हैं, उसमे वह बात नहीं थी। धनीके लिए वहीं स्थान होता था, जहाँ निर्धन होते थे। उस समाजमे अपने स्थान और सम्मानकी रक्षा करनेके लिए धनीको अनेक परोक्ष प्रकारोंसे बडे-बडे अकोंमे टैक्स देना पडता था। गाँवमे विशुद्ध जल, वैद्य, पडित, देवालय, नाटक, गान, कथा, कुआ, बावडी, मार्ग आदि जो कुछ होता

था, वह गाँवके व्यक्तिगत अर्थके समाजमुखी प्रवाहसे ही होता था, राज-करसे नहीं। इसमें व्यक्तिगत स्वेच्छा और समाजकी इच्छा दोनों ही मिल जाती थीं। इस तरहके आदान-प्रदान राष्ट्रीय यत्रसे नहीं होते थे, किन्तु मनुष्यकी इच्छासे हुआ करते थे, इसलिए इनमें धर्म-साधनकी क्रिया चलती थी, अर्थात् इसमें केवल कानूनके चलनेसे बाहरी फल नहीं लगते थे, बल्कि अन्तरंगमें व्यक्तिगत उत्कर्ष होता रहता था। यह व्यक्तिगत उत्कर्ष ही मानव-समाजका स्थायी कल्याणमय सजीव आश्रय है।

वणिक-सम्प्रदाय—धनको काममें लगाकर लाभ करना ही जिसका मुख्य व्यवसाय है—समाजमें पतित समझा जाता था, क्योंकि तब धनका अधिक सम्मान नहीं था, और इसीलिए धन और अधनका इतना बडा भेद भी तब नहीं था। धन अपने बडे संचयके कारण समाजमें सम्मान नहीं पाता था, बल्कि अपने महान् दायित्वको पूरा करके ही वह सम्मानित होता था, नहीं तो वह लज्जित ही बना रहता था। अर्थात् सम्मान धर्मका था, धनका नहीं। इस सम्मानको समर्पण करते हुए किसीके आत्म-सम्मानकी हानि नहीं होती थी। अब वे दिन चले गये हैं, इसीलिए सामाजिक दायित्वहीन धनके प्रति असहिष्णुताके लक्षण अनेक आकारोंमें दिखाई देने लगे है। कारण, धन अब मनुष्यको अर्घ्य नहीं चढाता, बल्कि उसे अपमानित ही करता है।

यूरोपीय सभ्यता पहलेसे ही नगरोंमें पैर जमानेका रास्ता*

ढूंढ रही है। नगरोंमे मनुष्योको मौके बहुत मिलते हैं, पर सम्बन्ध बहुत सकुचित हो जाता है। नगर बहुत बडे होते हैं, मनुष्य वहाँ विक्षिप्त हो जाता है, व्यक्ति-स्वातंत्र्य वहाँ अति मात्रामे होता है, प्रतियोगिताका आन्दोलन भी वहाँ प्रबल होता है। ऐश्वर्य वहाँ धनी और निर्धनके भेदको बढा देता है और चैरिटीके द्वारा जो-कुछ सम्बन्ध मिलाया जाता है, उसमे न तो सान्त्वना ही है और न सम्मान ही। वहाँ जो धनके अधिकारी और धनके वाहन है, दोनो में आर्थिक सम्बन्ध होता है, सामाजिक सम्बन्ध विछिन्न हो जाता है या टूट जाता है।

ऐसी अवस्थामे यन्त्रयुग आया, लाभके अक बढने लगे और हदसे ज्यादा बढने लगे। यह मुनाफेकी महामारी जब दुनिया-भरमे फैलने लगी, तब जो दूरके रहनेवाले अनात्मीय थे, जो निर्धन थे, उनके लिए रास्ता ही बंद हो गया। चीनको अफीम खानी पडी, भारतके पास अपना कहनेको जो-कुछ था, उसे उजाड कर देना पडा, अफ्रिकाको हमेशा कष्टोंका सामना करना पडा और उसके कष्ट दिनोदिन बढने ही लगे। यह तो हुई बाहरकी बात, अब पश्चिम महादेशको लो, वहाँ भी धनी और निर्धनका भेद आज अत्यन्त कठोर हो गया है, जीवनयात्राका आदर्श बहुमूल्य और उपकरण-बहुल होनेसे—जीवनकी आवश्यकताएं अत्यन्त बढ जानेसे—दोनों पक्षोका भेद अत्यत तीव्र होकर आँखोंके सामने पडता है। पुराने जमानेमे कम-से-कम हमारे देशमे, ऐश्वर्यका आडम्बर था, मुख्यत सामाजिक

दान और कर्ममे, और अब है व्यक्तिगत भोगमे। यह हमे विस्मित करता है, आनन्दित नहीं करता, इससे ईर्ष्या पैदा होती है, प्रशसा नहीं होती। सबसे बडी बात यह है कि उस समय समाजमे धनका व्यवहार केवल दाताकी स्वेच्छापर निर्भर नहीं था, उसपर सामाजिक इच्छाका प्रबल प्रभाव था, इसलिए दाताको नम्र होकर दान करना पडता था, 'श्रद्धया देय'—यह बात कार्यरूपमे परिणत होती थी।

मतलब यह कि आजकल व्यक्तिगत धन-संचय धनीको प्रबल शक्तिका जो अधिकार देता है, उससे सर्वसाधारणको सम्मान और आनन्द नहीं मिल सकता। उसमें एक ओर असीम लोभ है और दूसरी ओर गहरी ईर्ष्या, बीचमें है दुस्तर पार्थक्य। समाजमे सहयोगिताकी अपेक्षा प्रतियोगिता हदसे ज्यादा बढ़ गई है। यह प्रतियोगिता अपने देशमे है एक श्रेणीके साथ अन्य श्रेणीकी, और बाहर है एक देशके साथ दूसरे देशकी। इसीसे चारो ओर सशयहिंस्र अस्त्र चमक रहे हैं, उनकी तादाद घटानेमे कोई भी किसी तरह समर्थ नहीं हो रहा। और जो परदेशी इस दूरस्थित भोग-राक्षसकी क्षुधा मिटानेके काममे लगे हुए है, उनकी रक्तहीन कृशता युगोंसे बढती ही जाती है। जो अपने बलके दर्पमें यह बात कहते हैं कि इस बहु-विस्तृत कृशतामें ससारकी अशान्ति आकर घर नहीं बना सकती, कहना चाहिए कि वे अपनी मूढ़ताके अन्धकारमे भटक रहे हैं। जो हमेशा दुःख-ही-दुःख पा रहे हैं, वे अभागे ही दुःख-विधाताके भेजे हुए दूतोंके प्रधान

सहायक हैं, उनके उपवास-लघनोंमे प्रलयकी आग सचित हो रही है।

वर्तमान सभ्यताकी इस अमानविक अवस्थामे बोलशेविक-नीतिका अभ्युदय हुआ है। वायुमडलके एक अंशमे तनुत्व उपस्थित होनेपर आँधी जैसे विजली-रूपी दांत पीसकर घातक मूर्ति धारण करके झपटकर आती है, यह भी वैसा ही काड है। मानव-समाजमे सामजस्य जाता रहा है, इसीलिए इस अप्राकृतिक विप्लवका प्रादुर्भाव हुआ है। समष्टिके प्रति व्यष्टिकी उपेक्षा क्रमशः बढती ही जा रही थी, इसीसे समष्टिकी दुहाई देकर आज व्यष्टिकी वलि चढानेका आत्मघाती प्रस्ताव उठ खडा हुआ है। समुद्र-तटपर अग्निगिरिका उपद्रव शुरू हुआ है, इसलिए समुद्रको ही एकमात्र बन्धु घोषित किया जा रहा है। तटहीन समुद्रका जब सम्पूर्ण परिचय मिलेगा, तब किनारे पहुचनेके लिए फिर निहोरे करने पडेंगे। उस व्यष्टि-वर्जित समष्टिकी अवास्तवताको मनुष्य कभी भी सहन नहीं कर सकता। समाजसे लोभके दुर्गोंको जीतकर अपने कब्जेमे लाना होगा, परन्तु व्यक्तिको वैतरणी पार करके समाजकी रक्षा कौन कर सकता है? सम्भव है, वर्तमान रुग्न युगमें बोलशेविक नीति ही सुचिकित्सा हो, परन्तु चिकित्सा तो हमेशा नहीं चलाई जा सकती, वास्तवमे डाक्टरका शासन जिस दिन दूर होगा, वही दिन रोगीके लिए शुभ दिन है।

हमारे देशमें, हमारे गाँव-गाँवमे धन-उत्पादन और परिचालनके काममे समवाय नीतिकी जय हो—यही मेरी कामना है।



पायोनियर विद्यार्थियोंमें रवीन्द्रनाथ

कारण, इस नीतिमें जो सहयोगिता है, उसमें सहयोगियोंकी इच्छाका और उनके विचारोंका तिरस्कार नहीं किया जाता, अतएव मानव-प्रकृतिका सम्मान किया जाता है। उस प्रकृतिको विरुद्ध बनाकर बलसे काम लिया जाय, तो वहाँ बल कुछ काम नहीं देगा।

इसके साथ ही एक बात खास तौरपर कहनी है, वह यह कि जब मैं चाहता हूँ कि हमारे देशमें गाँव जीवित हो उठें, तब इस बातको हरगिज़ नहीं चाहता कि हममें फिरसे ग्राम्यता या गँवारूपन आ जाय। ग्राम्यता एक ऐसा संस्कार है, जिसकी विद्या, बुद्धि, विश्वास और कार्यका ग्राम-सीमाके बाहरसे कुछ सम्बन्ध नहीं, अर्थात् वह ग्राम-सीमामें ही आबद्ध रहता है। वर्तमान युगकी जो प्रकृति है, वह सिर्फ उससे पृथक् ही नहीं, बल्कि विरुद्ध है। वर्तमान युगकी विद्या और बुद्धिकी भूमिका विश्वव्यापी है—यद्यपि उसके हृदयकी अनुवेदना सम्पूर्णतः उतनी व्यापक नहीं हुई है। गाँवोंमें ऐसा जीवन लाना होगा, जिसके उपादान तुच्छ और संकीर्ण न हों और जिसके द्वारा मानव-प्रकृतिमें कभी भी किसी भी तरह ओछापन न आने पावे, और न उसपर अन्धकार ही छा सके।

इंग्लैण्डमें एक दिन किसी ग्राममें एक किसानके घर गया था। देखा कि लन्दन जानेके लिए उस घरकी स्त्रियोंका चित्त चंचल हो रहा है। शहरके सब तरहके ऐश्वर्योंकी तुलनामें गाँवोंकी पूँजी इतनी दीन-हीन है कि गाँवके चित्त स्वभावतः ही सदा शहरकी ओर खिंचते रहते हैं। देशके भीतर रहते

हुए भी गाँव मानो निर्वासित-से हो रहे हैं। रूसमे दूसरी ही बात देखी—गाँवोके साथ शहरोकी जो प्रतिकूलता है, उसे हमेशाके लिए मिटा देनेकी कोशिश हो रही है। यह उद्योग यदि अच्छी तरह सफल हुआ, तो शहरकी अस्वाभाविक अतिवृद्धि दूर हो जायगी। देशकी प्राण-शक्ति और विचार-शक्ति देशमे सर्वत्र व्याप्त होकर अपना काम कर सकेंगी।

हमारे देशके गाँव भी शहरकी जूठन और बचे-खुचेसे पेट भरनेवाले न होकर मनुष्यत्वके पूर्ण सम्मान और सम्पदके भोक्ता हो—यही मेरी कामना है। एकमात्र समवाय-पद्धतिसे ही गाँव अपनी सर्वाङ्गीन शक्तिको डूबतेसे बचा सकेंगे—ऐसा मेरा विश्वास है। बड़े खेदका विषय है कि आज तक हमारे देशमें समवाय-पद्धति सिर्फ रुपये उधार देनेमे ही थककर एक जगह बैठ गई,—यह तो महाजनी ग्राम्यताको ही कुछ झाड-पोंछकर साफ-सुथरा रूप दिया गया है,—सम्मिलित उद्योगसे जीविका उपार्जन और भोगके काममे वह नहीं लग सकी।

इसका मुख्य कारण यह है कि जिस शासनतंत्रके आधारपर नौकरशाही समवाय-नीति हमारे देशमे आविर्भूत हुई है, वह यन्त्र अन्धा-बहरा-उदासीन है। इसके सिवा, लज्जासे सिर झुकाकर शायद यह बात भी स्वीकार करनी पडेगी कि चरित्रमें जिस गुणके होनेपर सगठित होना सहज होता, हममें वह गुण नहीं है। जो कमजोर हैं, परस्परमें उनका विश्वास भी कमज़ोर होता है। अपनेपर अश्रद्धा ही दूसरोंपर अश्रद्धाकी नींव है।

जो बहुत समयसे पराधीन हैं, उनका आत्म-सम्मान जाता रहा है, इसीसे यह दुर्गति है। प्रभु-श्रेणीके शासनको वे सिर झुकाये स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु स्व-श्रेणीका सचालन उनसे सहा नहीं जाता, स्व-श्रेणीको धोखा देना और उसके साथ निष्ठुर व्यवहार करना उनके लिए स्वाभाविक ही है।

रूसी कहानियोंकी पुस्तकें पढनेसे मालूम हो सकता है कि वहाँके बहुत कालसे सताये हुए किसानोंकी भी यही दशा है। कितना ही दु साध्य क्यो न हो, और कोई रास्ता ही नहीं है, परस्परकी शक्ति और हृदयको सम्मिलित करनेका लक्ष्य बनाकर प्रकृतिका सशोधन करना ही पडेगा। यह काम समवाय-पद्धतिसे कर्ज़ देकर पूरा नहीं हो सकता, एकत्र सगठित कार्य कराकर ग्रामवासियोंके चित्तको एकताकी ओर उन्मुख करके तब कहीं हम गाँवोंकी रक्षा कर सकते हैं।

---

मूल्यको मैं हृदयसे स्वीकार करता हू। स्वीकार न करनेव मैं अपराध समझता हू। उसने मनुष्यको बहुत ऐश्वर्य दिय है, ऐश्वर्यका मार्ग विस्तृत किया है। सब कुछ हुआ, परन् दुःख और पापोंके द्वारा कलिकाल ऐसे किसी छिद्रसे प्रवेश करत है कि पहले तो हमे उसका कुछ भान ही नहीं होता—फि धीरे-धीरे उसका फल हमारे सामने आता है।

मैं वहाके अनेक विचारशील मनीषियोंके साथ मिला हू और उनसे बातचीत भी की है। वे उद्विग्नताके साथ सोच रहे हैं—इतनी विद्या, इतना ज्ञान, इतनी शक्ति, इतनी सम्पद है, किन्तु सुख क्यो नहीं है—शान्ति क्यो नहीं है? प्रतिक्षणमें सब शंकित रहते हैं कि न-जाने कब कैसा भीषण उपद्रव प्रलयकाड उठ खडा हो। उन्होने क्या निश्चय किया है, मैं नहीं कह सकता। अभी तक शायद कोई कारण निश्चित नहीं कर सके हैं, या उनमें से अनेक प्रकारके लोगोंने अपने-अपने स्वभावके अनुसार अनेक कारण निश्चित किये होंगे। मैंने भी इस सम्बन्धमें कुछ विचार किया है। मैं जैसा समझता हू, वह पूर्णत सत्य है या नहीं, मै नहीं कह सकता, किन्तु मेरा अपना विश्वास है कि इसका कारण कहाँ है, मन-ही-मन मैं उसका ठीक-ठीक अनुभव कर रहा हू।

पश्चिम देशने जिस सम्पदकी सृष्टि की है, वह अतिविपुल, प्रचड, शक्ति-सम्पन्न यत्रके द्वारा की है। धनका वाहन बना है यंत्र, और उस यंत्रका वाहन हुआ है मनुष्य—लाखों-हज़ारों

## १—ग्रामवासियोंके प्रति*

बन्धुओ, एक वर्ष प्रवासमे रहनेके बाद, पश्चिम महादेशके नाना स्थानोमे भ्रमण करके आज फिर अपने देशमे आया हू। तुम लोगोंसे एक बात कहना जरूरी है,—तुममे से कितने लोग ऐसे होगे, जो शायद इस बातका अनुभव ही न कर सकेंगे कि मेरी बात कहाँ तक सत्य है। पश्चिमके देश-विदेशका भीतरी दुख आज प्रकट हो गया है—इस बातकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वे सुखी नहीं है। वहाँ बड़ी तादादमें असबाव है, तरह-तरहके आयोजन और उपकरण हैं और होते जा रहे है—इसमे सन्देह नहीं। किन्तु इस छोरसे लेकर उस छोर तक वहाँ गहरी अशान्ति है, गहरा दुख उन्हे सब तरफसे घेरे हुए है।

यह न समझना कि अपने देशपर मुझे अभिमान है, इसलिए ऐसा कह रहा हू। वास्तवमें यूरोपपर मेरी गहरी श्रद्धा है। पश्चिम महादेशमे मनुष्यने जैसी साधना की है, उस साधनाके

---

* श्रीनिकेतनमें वार्षिकोत्सवपर ग्रामवासियोंके प्रति दिया हुआ भाषण।

मूल्यको मै हृदयसे स्वीकार करता हू। स्वीकार न करनेको मैं अपराध समझता हू। उसने मनुष्यको बहुत ऐश्वर्य दिया है, ऐश्वर्यका मार्ग विस्तृत किया है। सब कुछ हुआ, परन्तु दुःख और पापोके द्वारा कलिकाल ऐसे किसी छिद्रसे प्रवेश करता है कि पहले तो हमे उसका कुछ भान ही नहीं होता—फिर धीरे-धीरे उसका फल हमारे सामने आता है।

मै वहाके अनेक विचारशील मनीषियोंके साथ मिला हू, और उनसे बातचीत भी की है। वे उद्विग्नताके साथ सोच रहे हैं—इतनी विद्या, इतना ज्ञान, इतनी शक्ति, इतनी सम्पद है, किन्तु सुख क्यो नहीं है—शान्ति क्यो नहीं है? प्रतिक्षणमें सब शकित रहते हैं कि न-जाने कब कैसा भीषण उपद्रव प्रलयकाड उठ खडा हो। उन्होने क्या निश्चय किया है, मैं नहीं कह सकता। अभी तक शायद कोई कारण निश्चित नहीं कर सके हैं, या उनमे से अनेक प्रकारके लोगोंने अपने-अपने स्वभावके अनुसार अनेक कारण निश्चित किये होंगे। मैंने भी इस सम्बन्धमे कुछ विचार किया है। मैं जैसा समझता हू, वह पूर्णत सत्य है या नहीं, मैं नहीं कह सकता, किन्तु मेरा अपना विश्वास है कि इसका कारण कहाँ है, मन-ही-मन मैं उसका ठीक-ठीक अनुभव कर रहा हू।

पश्चिम देशने जिस सम्पदकी सृष्टि की है, वह अतिविपुल, प्रचड, शक्ति-सम्पन्न यत्रके द्वारा की है। धनका वाहन बना है यत्र, और उस यत्रका वाहन हुआ है मनुष्य—लाखों-हज़ारों

मनुष्य। उसके बाद यान्त्रिक सम्पद्की वेदी-प्रतिष्ठाके रूपमें उन्होंने शहर बनाये, उन शहरोंका पेट उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, और उसकी परिधि अब बहुत बड़ी हो गई है। न्यूयार्क, लन्दन आदि शहरोंने अनेक गाँव-उपगाँवोंकी प्राणशक्ति निकालकर तब कहीं बृहत् दानवीय रूप धारण किया है। परन्तु एक बात याद रखनी होगी—यह कि शहरमें मनुष्य कभी भी घनिष्ठ रूपसे सम्बन्ध-युक्त नहीं हो सकता। दूर जानेकी जरूरत नहीं, कलकत्ता शहरको ले लो, जहाँ हम रहते हैं। मैं जानता हूँ, यहाँ पड़ोसियोंका पड़ोसियोंके साथ सुख-दुःखमें आपद्-विपदमें कोई सम्बन्ध नहीं। हम उनका नाम तक नहीं जानते।

मनुष्यका एक स्वाभाविक धर्म है, वह है उसका समाजधर्म। समाजमें वह अपने लिए यथार्थ आश्रय पाता है परस्परके सम्बन्ध-सहयोगसे। परस्पर सहायता करनेसे मनुष्यको जो शक्ति मिलती है, उसका ज़िकर मैं नहीं कर रहा हूँ। मेरा कहना है, मनुष्यका सम्बन्ध जब चारों तरफके पड़ोसियोंमें, अपने घरमें और घरके बाहर व्याप्त हो जाता है, तब उस सम्बन्धकी विशालता उसे स्वतः ही आनन्द देती है। हमारी गहरी तृप्ति तो वहीं है, जहाँ केवल व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं, सुयोग-सुविधाओंका सम्बन्ध नहीं, व्यवसायका सम्बन्ध नहीं, किन्तु सब तरहके स्वार्थके बाहर आत्मीयताका सम्बन्ध है। वहाँ मनुष्य और सब चीजोंसे वञ्चित रह सकता है, किन्तु मानव-आत्माकी तृप्ति वहाँ पूरी मात्रामें मौजूद है।

विदेशोमे मुझसे बहुतोंने पूछा है—जिसको कि वे happiness कहते हैं और हम सुख कहते हैं, उसका आधार कहा है?

मनुष्य सुखी वहीं होता है, जहा मनुष्यके साथ मनुष्यका सम्बन्ध सत्य हो जाता है,—यह सर्वमान्य बात है। परन्तु फिर भी आज इसे समझा देनेकी जरूरत है। क्योकि इस सम्बन्धको छोडकर जहाँ व्यवसाय-घटित सम्बन्ध है, वहाँ मनुष्य इतना अधिक फल प्राप्त करता है—बाहरी फल—उसमे इतना मुनाफा होता है, इतने तरहके मौके ('चान्स') मिलते है कि फिर मनुष्यमे यह कहनेकी हिम्मत नहीं रह जाती कि यही सत्यताका चरम विकास नहीं है। इतना उसे मिलता है। इतनी उसकी शक्ति हो जाती है। यन्त्रके द्वारा जो शक्ति प्रबल हो उठती है, उससे वह सारे ससारको इस तरह प्रभावान्वित कर लेता है कि फिर वह समझने लगता है कि विदेशके इतने लोगोको उसने अपना दास बना लिया है, इतना उसमे अहंकार हो जाता है, और उसके साथ ही ऐसी बहुतसी सुविधाएँ उसे मिलती हैं, जो वास्तवमे मनुष्यकी जीवन-यात्राके मार्गमे अत्यन्त अनुकूल पडती हैं। वे ऐश्वर्यके द्वारा पैदा हुई हैं। उन्हे मनुष्य सहज ही चरम लाभ समझने लगता है। ऐसा समझे बगैर रह नहीं सकता। इसके हाथ उसने मनुष्यको सबसे बडी चीज बेच दी है—वह है मानव-सम्बन्ध।

मनुष्य मित्र चाहता है, जो सुख-दु खमे उसे अपनावें, जिनके पास बैठकर बातचीत करनेसे उसे खुशी हो, जिनक

मा-बापोंके साथ उसका सम्बन्ध था और जिन्हें वह माता-पिताके समान समझता था, और जिनके बाल-बच्चोंको वह अपने ही बच्चोंके समान जानता हो। इस प्रकारकी पारिवारिक मित्र-मंडलीमें मनुष्य अपने मानवत्वका अनुभव करता है।

यह बात सच है कि एक विशालकाय दानवीय ऐश्वर्यमें मनुष्य अपनी शक्तिका अनुभव करता है। वह भी बहुमूल्य है, मैं उसकी अवज्ञा न करूंगा। किन्तु उस शक्तिके विस्तारके साथ-साथ यदि मानवी सम्बन्धके विकासके लिए अनुकूल क्षेत्र क्रमश संकीर्ण होता गया, तो वह शक्ति फिर शक्ति नहीं रहती—शक्तिशूल हो जाती है, वह मनुष्यको मारती है, मारनेके अस्त्र बनाती है, मनुष्यका सर्वनाश करनेके लिए षड्यंत्र करती है, असत्यका प्रसार करती है, अनेक निष्ठुरताओंका पालन करती है, और समाजमें नाना प्रकारके विषवृक्षोंका बीजारोपण करती है। ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता, होगा ही। दर्द या सहानुभूति जब जाती रहती है, मनुष्य जब अधिकांश मनुष्योंको आवश्यकीय सामग्रीकी दृष्टिसे देखनेका आदी बन जाता है, जब देखता है कि लाखों मनुष्य मिलके पहिये घुमाकर उसकी निजी मिलका कपड़ा सस्ता करेंगे, उसके अनापशनाप खर्चके लिए रुपये इकट्ठा कर देंगे, उसके अकेलेके भोग-उपभोगके लिए उपकरण सुगम कर देंगे—एक मनुष्य जब अनेक मनुष्योंको इस तरह देखनेका आदी बन जाता है, तब वह यथार्थ मनुष्यको नहीं देखता—मनुष्यकी मेशीनको देखता है।

यहाँ चावलकी मिलें हैं। उस मिल-दानवके चक्के हैं सथालोंके बाल-बच्चे। धनी क्या उन्हें आदमी समझते हैं? उनके सुख-दुःखोंका क्या हिसाब है? रोजकी मजूरी देकर उनसे कसकर खून सुखानेवाला काम वसूल कर लिया जाता है। इससे रुपया भी मिलता है, सुख भी मिलता है और बहुत मिलना है, मगर मनुष्यकी सबसे श्रेष्ठ वस्तु मानवत्व बिक जाता है। दया-माया, परस्परकी स्वाभाविक अनुकूलता, दर्द-सहानुभूति—कुछ भी नहीं रहता। कौन देखता है—उनके घरमे क्या होता है क्या नहीं। किसी समय हमारे यहाँके गाँवोंमे ऊँच-नीचका भेद था ही नहीं, सो बात नहीं,—प्रभु थे, दास थे, पंडित थे, मूर्ख थे, धनी थे, निर्धन थे,—परन्तु सबके सुख-दुःखोंपर सबकी दृष्टि थी। उन्होने आपसमें मिलकर एक एकत्रीभूत जीवन-यात्रा तैयार कर ली थी। पूजा-पार्वणमें, आनन्द-उत्सवमें—घात-बातमे प्रतिदिन वे नाना प्रकारसे मिला-जुला करते थे। ठाकुरद्वारेमे इकट्ठे होकर बाबा-परबाबाओंके साथ बैठकर बातचीत किया करते थ। जो अन्त्यज थे, वे भी एक किनारे बैठकर आनन्दका भाग लिया करते थे। ऊच-नीच और ज्ञानी-अज्ञानियोंके बीचमे जो रास्ता था—जो सेतु था, वह खुला था।

मे देहातोंकी बात कह रहा हू, पर याद रखना—देहात ही तब सब-कुछ थे, शहर तब नगण्य थे, यह नहीं कहना चाहता, कहनेका मतलब यह है कि शहर गौण थे, मुख्य नहीं।

गाँव-गाँवमें कितने ही पंडित, कितने ही धनी-मानी पैदा होते थे और वे अपने जन्मस्थानको अपनाकर वहीं रहते थे। जीवन-भर नवाबोंके यहाँ या दरबारमें काम करते थे, और जो-कुछ सम्पत्ति उन्हें मिलती थी, उसे अपने गाँवको ले आते थे। उस धनसे विद्यापीठ चलती थी, पाठशालाएँ खुलती थीं, रास्ते बनते थे, कुऐं खुदते थे, अतिथिशाला और धर्मायतन स्थापित होते थे, जिससे गाँवोंके तन-मन-प्राण एक होकर मिल जाते थे। ग्रामोंमें हमारे देशके प्राणोंकी प्रतिष्ठा थी, उसका कारण यह है कि गाँवोंमें मनुष्यके साथ मनुष्यका जो सामाजिक सम्बन्ध होता है, वह सत्य हो सकता है। शहरोंमें वैसा होना असम्भव है। इसलिए सामाजिक मनुष्य ग्रामोंमें ही आश्रय पाता है। और जो कुछ है, सो सामाजिक मनुष्यके लिए ही तो है। धर्मकर्म सामाजिक मनुष्यके लिए ही हैं। लखपती-करोड़पती रुपयेकी थैलियाँ लिये गद्दियोंपर बैठे आराम कर सकते हैं, बड़ी-बड़ी हिसाबकी बहियोंके सिवा उनकी अपनी चीज और कुछ है ही नहीं, उनके साथ किसीका सम्बन्ध ही नहीं है। अपने रुपयोंकी गद्दी बनाकर धनी उसीमें बैठा रहता है, सर्वसाधारणके साथ उसका सम्बन्ध कहाँ है?

वर्तमान समयसे तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि पहले हमारे देशमें बहुतसी कमियाँ थीं। अब हम नलका पानी पीते हैं, जिसमें रोगके बीज कम हैं, चिकित्साके लिए अच्छे डाक्टर मिलते हैं, अस्पताल हैं और ज्ञान-विज्ञानकी सहायतासे बहुतसी सुविधाएं भी

मिलती हैं। मैं इनका असम्मान नहीं करता, किन्तु हमारी जो सबसे बडी सम्पत्ति थी, वह थी आत्मीयता। उससे बडी सम्पद और कुछ हो ही नहीं सकती। उस आत्मीयताका जहाँ अभाव है, वहा सुख-शान्ति रह ही नहीं सकती।

पश्चिम महादेशमें आदमी-आदमीमे परस्पर जो आत्मीयता है, वह अत्यन्त बहती हुई है। उसकी जड गहराई तक नहीं है। सब कहते हैं—मैं भोग करूंगा, मैं बडा बनूगा, मेरा नाम होगा, मुझे मुनाफा होगा। क्यो कि जो ऐसा कर रहा है, उसका कितना बडा सम्मान है। उसकी धनशक्तिको तौलते हुए वहाँके लोगोंका हृदय रोमाचित हो उठता है। व्यक्तिगत शक्तिकी ऐसी उपासना हमारे देशमे नहीं पाई जाती। वास्तवमें है कुछ नहीं, एक आदमी सिर्फ घूँसेबाजी कर सकता है—वहा घूसेबाजीका एक बडा उस्ताद रास्तेसे निकला, चारों तरफ भीड लग गई। खबर मिली कि सिनेमाकी नटी लन्दनके रास्तेसे गाडीपर जा रही है, गाडीके भीतरसे एक नज़र उसे देखनेके लिए जनतासे रास्ता भर गया। हमारे देशमे जो महदाशय कहलाते है, उनके आनेपर सब उनके पैर छूते है। महात्मा गान्धी आते हैं, तो सारा देश उनके लिए पागल हो जाता है। उनके पास न तो धन है और न बाहुबल, किन्तु है हृदय और आध्यात्मिक शक्ति। मुझे जहाँ तक मालूम है, वे घूसा चलाना नहीं जानते, परन्तु मनुष्यके साथ मनुष्यके सम्बन्धको उन्होंने बहुत बडा माना है, अपनेको उन्होंने पृथक नहीं रखा। वे हम सभीके हैं, और हम

सब उनके है। बस, हो गया, इससे ज्यादा हम कुछ नहीं चाहते। उनसे भी बढ़कर अनेक विद्वान हैं, ज्ञानी हैं, धनी हैं, परन्तु हमारा देश देखना चाहता है—आत्मदानका ऐश्वर्य।

यह क्या कम बात है। इससे समझ सकते हैं कि हमारे देशके लोग क्या चाहते हैं। वे पाण्डित्य नहीं चाहते, ऐश्वर्य नहीं चाहते, और कुछ नहीं चाहते, वे चाहते हैं मनुष्यकी आत्माकी सम्पद। परन्तु दिन-पर-दिन परिवर्तन होता आया है। मैंने ग्रामोंमें बहुत दिन बिताये हैं,—किसी तरहके कटुशब्द नहीं कहना चाहता। ग्रामकी मैंने जो मूर्ति देखी है, वह बहुत ही भद्दी है। वहां आपसमें ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, धोखेबाजी आदि बड़ी विचित्र तरहसे हुआ करती है। झूठे मुकदमोंके घातक जालमें फँसाकर एक दूसरेका घात करते रहते हैं। वहाँ दुर्नीतिने कितनी जड़ पकड़ ली है, यह मैंने खुद अपनी आँखोंसे देखा है। शहरमें कुछ सुविधाएँ होती हैं, जो गाँवोंमें नहीं हैं। गाँवोंकी जो अपनी चीज थी, वह भी आज जाती रही।

ग्रामवासियो, मैं आज तुम्हारे पास हृदयमें बड़ी उत्सुकता लिये हुए आया हूं। पहले तुम लोग सामाजिक बन्धनसे एक थे, आज तुम छिन्न-भिन्न होकर एक दूसरेको केवल चोट पहुंचा रहे हो। अब फिर एक बार सम्मिलित होकर तुम्हें अपनी शक्तिको जगा देना होगा। बाहरकी अनुकूलताकी बाट न देखो। तुम्हारे अंदर वह शक्ति मौजूद है—यह जानकर ही भूली हुई शक्तिकी तुम्हें याद दिलानेके लिए ही हम सब यहाँ आये हैं क्योंकि तुम्हारी उस

शक्तिपर सारे देशका अधिकार है। नींव ज्यों-ज्यों धसकती जा रही है, त्यों-त्यों ऊपरकी मंजिलें फटती जा रही हैं—ऊपरसे पलस्तर चढ़ाकर अधिक दिन तक उसकी रक्षा नहीं की जा सकती।

आओ तुम लोग, प्रार्थी रूपमें नहीं—सफल कार्यकर्ता बनकर आओ। हमारे सहयोगी बनो, तभी हमारा उद्योग सार्थक होगा। ग्रामों के सामाजिक प्राणों को स्वस्थ होकर बलवान बनने दो। गानसे, गीतसे, काव्यसे, बातचीतसे, अनुष्ठानसे, आनन्दसे, शिक्षासे, दीक्षासे चित्तको जगाओ। तुम्हारी दीनता, तुम्हारी दुर्बलता, तुम्हारा अपमान आज भारतवर्षकी छातीपर बड़ा-भारी बोझ बनकर लदा हुआ है। और-सब देश बहुत आगे बढ़ गये हैं, हम अज्ञान और अशिक्षासे स्थावर होकर जहाँ-के-तहाँ पड़े हुए हैं। यह सब कुछ चुटकीमें दूर हो जायगा—यदि हम अपनी-अपनी शक्तिरूपी पूँजीको इकट्ठी करके एक बार उठ खड़े हों। हमारे इस श्रीनिकेतनमें सर्वसाधारणकी उस शक्ति-संगठनकी साधना हो रही है।

---

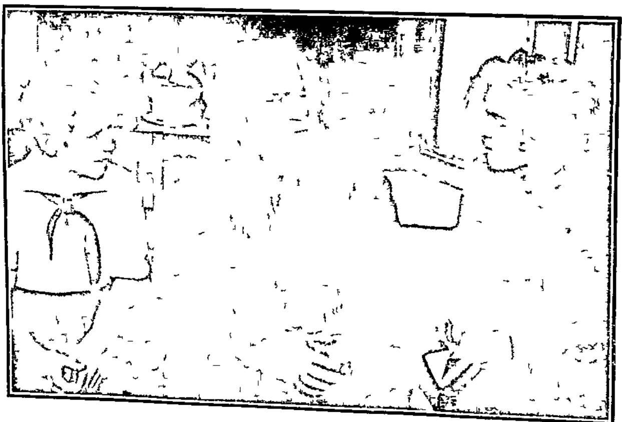
## २—ग्राम-सेवा*

वेदोमे अनन्त स्वरूपको कहा है—"आवि"—प्रकाश-स्वरूप। उनका प्रकाश अपनेमें ही सम्पूर्ण है। उनसे मनुष्यकी प्रार्थना यह है—"आविरावीर्म्म एधि।" हे आवि, मेरे अदर तुम्हारा आविर्भाव हो। अर्थात् मैं अपनी आत्मामे अनन्तस्वरूपका प्रकाश चाहता हू। ज्ञानमे, प्रेममे, कर्ममें मेरी अभिव्यक्ति अनन्तका परिचय दे—इसीमें मेरी सार्थकता है। मनुष्य अपनी चित्तवृत्तिसे, अपनी इच्छाशक्तिसे, अपने कर्मोद्यमसे अपूर्णताका आवरण धीरे-धीरे दूर करके अनन्तके साथ अपना साधर्म्य प्रमाणित करता रहे,—यही मनुष्यका धर्म-साधन है।

अन्य जीव-जन्तु जिस अवस्थामे ससारमे आये है, उसी अवस्थामे उनका परिणाम है, अर्थात् प्रकृतिने ही उनको प्रकट किया है और उस प्रकृतिकी प्रेरणाको मानकर ही वे जीवनयात्राका निर्वाह करते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। परन्तु अपने भीतरसे अपने अन्तरतर सत्यको अपने ही उद्यमसे निरन्तर उद्घाटित

---

* श्रीनिकेतनके उत्सवमें दिया हुआ भाषण।



पायोनियस कम्यूनमें दो पायोनियर-विद्यार्थी और रवीन्द्रनाथ

करना होगा,—मनुष्यके लिए यही चरम अध्यवसाय है। उस आत्मोपलब्ध सत्यमें ही उसका प्रकाश है, प्रकृति द्वारा नियन्त्रित प्राणयात्रामें नहीं। इसीलिए उसकी कठिन प्रार्थना यह है कि सभी ओर वह अनन्तका प्रकाश कर सके। इसीसे वह कहता है'—भूमैव सुख—महत्वमें ही सुख है, नाल्पे सुखमस्ति—थोड़ेमें सुख नहीं है।

मनुष्यके लिए यह सबसे बड़ा दुर्गतिका कारण हुआ कि अपने जीवनमें वह अपने भीतर स्थित भूमाको प्रकट न कर सका—जिससे बाधाएँ कठोर बनकर सामने आती ही रहीं। यह उसके लिए मृत्युसे भी बढ़कर मृत्यु है। आहार और विहारमें, भोग और विलासमें वह परिपुष्ट हो सकता है, परन्तु ज्ञानकी दीप्तिमें, त्यागकी शक्तिमें, प्रेमके विस्तारमें, कर्मोद्यमके साहसमें वह यदि अपने प्रबुद्ध मुक्त-स्वरूपको कुछ अंशोंमें भी प्रकट न कर सके, तो उसे 'महती विनष्टि' कहा जायगा—वह विनष्टि प्राणीकी मृत्युमें नहीं, किन्तु आत्माके अप्रकाशमें है।

जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका प्रतिशब्द है भूमाका प्रकाश। मनुष्यके भीतर जो निहितार्थ है—जो उसका गम्भीर सत्य है—सभ्यतामें उसीका आविष्कार हो रहा है। सभ्यतामें मनुष्यकी शिक्षा-पद्धति इतनी व्यापक और इतनी कठिन इसीलिए है। उसकी सीमा बराबर आगे ही बढ़ती जाती है, सभ्य मनुष्यकी चेष्टाएं प्रकृतिकी निर्दिष्ट किसी सीमाको चरम नहीं मानना चाहतीं।

मनुष्यमे नित्य बढ़ती हुई सम्पूर्णताकी जो आकाक्षा है, उसकी दो दिशाए हैं—एक व्यक्तिगत सम्पूर्णता और दूसरी सामाजिक। किन्तु ये परस्पर सयुक्त हैं—दोनोंके बीचमे कोई भेद नहीं है। व्यक्तिगत उत्कर्षमे ऐकान्तिकता नहीं हो सकती। मानवलोकमें जिन्होंने श्रेष्ठ पदवी पाई है, उनकी शक्ति सबकी शक्तिके भीतरसे ही व्यक्त होती है, वह भिन्न नहीं है। मनुष्य जहाँ व्यक्तिसे विच्छिन्न है, परस्परकी सहयोगिता जहाँ गाढी नहीं है, वहीं बर्बरता मौजूद है। बर्बर या जगली अकेला ही शिकार करता है, खड-खड रूपसे जीविकाके योग्य अनुभव प्राप्त करता है, और उस जीविकाका भोग अत्यन्त छोटी सीमामे सीमित है। अनेक मनुष्योंकी चित्तवृत्तिके उत्कर्षके सहयोगसे अपने चित्तकी उन्नति, बहुत आदमियोंकी शक्तिको मिलाकर अपनी शक्तिका प्राबल्य और अनेकोंकी सम्पद इकट्ठी करके अपनी सम्पदकी प्रतिष्ठा करना ही सभ्य मानवका लक्ष्य है।

उपनिषद् कहता है '—हम जब अपनेमे अन्यको और अन्यमें अपनेको पाते हैं, तभी सत्यके पास पहुचते हैं—'न ततो विजुगुप्सते'—तब फिर हम छिपकर नहीं रह सकते, तभी हमारा प्रकाश होता है। सभ्यतासे मनुष्य प्रकाशवान और बर्बरतासे अप्रकाश-युक्त होता है। परस्पर एक दूसरेमे आत्मोपलब्धि जितनी सत्य होती जाती है, उतना ही सभ्यताका यथार्थ रूप विकसित होता जाता है। धर्मके नामपर, कर्मके नामपर, सम्पत्तिके नामपर, स्वदेशके नामपर—जहाँ कहीं भी मनुष्य मानवलोकमें भेद उत्पन्न करता है, वहीं दुर्गतिका

कारण गोचर या अगोचरमे बलवान होता रहता है। वहाँ मानव अपने धर्मपर आघात करता है, और वहीं आत्मघातका प्रशस्त मार्ग खुल जाता है। इतिहासमे युग-युगमें इसके प्रमाण मिलते हैं।

सभ्यताके विनाशका कारण ढूढनेसे एक ही कारण मिलेगा, वह है मानव-सम्बन्धकी विकृति या व्याघात। क्षमताशाली और अक्षमके बीचका व्यवधान बढते-बढते यहाँ तक बढ गया कि सामाजिक सामजस्य ही नष्ट हो गया। प्रभु और दासमे, भोगी और अभुक्तमे भेद होते-होते समाजके टुकडे-टुकडे हो गये और उन भेदोने समाज-शरीरमे प्राण-प्रवाहके सचारको रोक दिया, जिससे एक अगकी अतिपुष्टि हुई और अन्य अगो मे अतिशीर्णता होनेसे रोगोंने अपना घर बना लिया। ससारके सभी सभ्य देशोमे इन छिद्रोसे यमराजके चर विहार कर रहे है। अन्य देशोकी अपेक्षा हमारे देशका प्रवेशद्वार उनके लिए और-भी बेरोक है। यह दुर्घटना हाल ही मे हुई है।

एक दिन हमारे देशके गाँव सजीव थे। सारा देश उसी समाजके द्वारा सम्बन्ध-बद्ध था, हमारी सारी शिक्षा-दीक्षा और धर्म-कर्मका प्रवाह गाँव-गाँवमे प्रवाहित था। देशका विशाल हृदय गाँव-गाँवमे प्रसारित होकर सर्वत्र व्याप्त था, वहीं उसे प्राण मिले थे। यह बात सच है कि आधुनिक अनेक ज्ञान-विज्ञानोकी सुविधाओंसे हम वञ्चित थे। उस जमानेमें हमारे उद्योगकी परिधि संकीर्ण थी, वैचित्र्य कम था, जीवन-यात्राकी आवश्यकताओंका अभाव भी काफी था। किन्तु फिर भी सामाजिक प्राण-क्रियाका योग अविच्छिन्न

था। अब वह बात नहीं रही। नदीका स्रोत जब चलता रह
है, तब उस स्रोतके द्वारा ही इस पारसे उसपार या इस देशसे
देशको जाना-आना और लेन-देनका सम्बन्ध कायम रह सकता है
परन्तु पानी जब सूख जाता है, तब उस नदीकी खाई विच्छ
रूपमे दिखाई देती है, तब किसी समय जो मार्ग था, वही अम
बन जाता है। वर्तमानमें यही बात हुई है।

जिन्हें हम भद्र-साधारण कहते हैं, वे जो विद्या अर्जन करते
उनकी जो आकाक्षा और साधना है, उन्हें जो सुविधाएं मिलती
वह तो सूखी नदीके सूखे गडहोका एक किनारा है, दूसरे किनारे
साथ उसके ज्ञान, विश्वास, आचार, अभ्यास और दैनिक जीवनयात्रा
इतना फासला है कि जो लाँघा नहीं जा सकता। ग्रामवासियो
पास न तो विद्या है, न स्वास्थ्य है, न सम्पद है, न अन्न-वस्त्र
उधर जो कालेजमे पढते हैं, वकालत करते हैं, डाक्टरी करते
बैंकोमें रुपये जमा करते हैं, वे ऐसे टापूमे हैं, जिसके चारों ओ
अथाह पानी है—ग्रामवासियोंसे उनका सर्वथा विच्छेद है।

जिस स्नायुजालके द्वारा अग-प्रत्यंगो की वेदना शरीरके मर्मस्थ
तक पहुचती है, सम्पूर्ण शरीरका आतमबोध अग-प्रत्यगोके बोध
सम्मिलनसे पूर्ण होता है, उसमे यदि विच्छेद हो, तो वह उसकी मरण
दशाको ही सूचित करता है। हमारे समाजकी वही मरण-दशा है
देशको मुक्ति देनेके लिए आज जो लोग उत्कट अध्यवसायमे प्रवृ
हैं—ऐसे लोगोकी भी वहाँ तक दृष्टि नहीं जाती, जहाँ समाजमे गहर
भेद है और लकनेक लक्षण साफ दिखाई दे रहे हैं। रह-रहक

उनके मुँहसे यही निकलता है कि कुछ करना चाहिए, किन्तु स्वरके साथ उनके हाथ नहीं उठते। देशके लिए हमारा जो उद्योग है, उसमे देशकी जनताको हम छोड ही देते हैं। इसके हम इतने आदी वन गये हैं कि इसकी विराट् विडम्वनाको भी हम नहीं समझ पाते। इसका एक दृष्टान्त देता हू।

हमारे देशमे आधुनिक शिक्षा-विधिके नामसे जिस वस्तुका उदय हुआ है, उसीके नामपर स्कूल और कालेज कुकुरमुत्तेकी तरह जहाँ-तहाँ सर उठाये दीख पडते हे। ये इस ढगसे वनाये गये हैं कि इनका प्रकाश कालेजी मडलके वाहर वहुत कम पहुचता है—सूर्यका प्रकाश चन्द्रमाके प्रकाशमे परिणत होकर जितना विकसित होता है, उससे भी कम। उसके चारो तरफ विदेशी भाषाकी मोटी-मजबूत चहारदीवारी है। मातृभाषाके द्वारा शिक्षा-प्रचारके विषयमें जब विचार करता हू, तो उस विचारमे साहस वहुत कम पाता हू। अन्तपुरिका वधूकी तरह वह भयभीत-सी मालूम होती है। आँगन तक ही उसकी गति है, उसके वाहर जाते ही उसका ठोडी तक घूघट उतर आता है। मातृभाषाका इलाका प्राथमिक शिक्षाके भीतर ही है, वह केवल वालकोंकी शिक्षाके योग्य है—अर्थात् मातृभाषाके सिवा अन्य कोई भाषा सीखनेकी सुविधा ही नहीं, उस विराट जनसघको विद्याके अधिकारके विषयमे वच्चोंके साथ स्थान दिया गया है। वे किसी तरह भी पूर्ण मनुष्य नहीं वन सकते, फिर भी हम आँख मीचकर स्वराज्यके सम्वन्धमें यह कल्पना करते हैं कि उन्हे पूर्ण मनुष्यका अधिकार मिलेगा।

ज्ञान-लाभके बंटवारेको लेकर देशके अधिकांश जनसमूहके लिए इतनी बडी अनशनकी व्यवस्था और किसी भी नव-जाग्रत देशमे नहीं है,—न जापानमे, न फारसमे, न टर्कीमे और न ईजिप्टमे। मातृभाषा मानो एक अपराध है—ईसाई धर्मशास्त्रमे जो आदिम पाप कहलाता है। देशवासियोके लिए मातृभाषागत शिक्षाके भीतरसे ज्ञानकी सर्वाङ्ग पूर्णताको हमने कल्पनाके बाहर छोड रखा है। अगरेज़ी होटलवालेकी दूकानको छोडकर और कहीं भी देशवासियोंके लिए पुष्टिकर भोजन मिल ही नहीं सकता—यह कहना, और अगरेजी भाषाके सिवा मातृभाषामें ज्ञानकी भलीभाँति प्राप्ति नहीं हो सकती—यह कहना, दोनो एक ही बात है।

इस सम्बन्धमे एक बात याद रखनी चाहिए, वह यह कि आधुनिक समस्त विद्याओका जापानी भाषामे समावेश करके तब कहीं जापानी विश्वविद्यालय देशकी शिक्षा-व्यवस्थाको सत्य और सम्पूर्ण बना सके है। इसका कारण यह है कि शिक्षाके मानी जापानियोने 'सम्पूर्ण देशकी शिक्षा' समझा है, 'भद्र'नामधारी एक सकीर्ण श्रेणीकी शिक्षाको ही उन्होने शिक्षा नहीं माना। मुँहसे हम चाहे जो-कुछ कहे, देशके मानी हम 'भद्रसमाजका देश' समझते है। सर्वसाधारणको हम 'लो-क्लास' या 'छोटे-आदमी' कहते हैं, यह शब्द जमानेसे हमारी नस-नसमे समा गया है। छोटे आदमियो के लिए सब तरहके पैमाने भी छोटे बने हैं। उन लोगोंने उसे स्वीकार कर लिया है। बडे पैमानेकी माँग पेश

करने लायक उनमें साहस ही नहीं रह गया। वे भद्र समाजके छायाचर हैं, उनका प्रकाश धुँधला है, किन्तु देशमें उन्हींकी संख्या ज्यादा है, और इसलिए देशका बारह-आना भाग धुंधला है। भद्र-समाज उन्हें स्पष्ट देख ही नहीं सकता, विश्व-समाजकी तो बात ही छोड दो।

राष्ट्रीय आन्दोलनकी उन्मत्त दशामें हम मुहसे चाहे जो कुछ भी क्यों न कहे, देशाभिमानको गला फाड़-फाड कर कितना ही क्यो न व्यक्त करें—हमारा देश प्रकाशहीन हो रहा है, और इसीलिए कर्मपथपर देश-सेवामें हमारी इतनी उदासीनता है। जिनको हमने छोटा बना रखा है, मानव स्वभावकी कृपणताके कारण हम उनपर अन्याय ही कर रहे हैं। उनकी दुहाई देकर हमेशा क्षण-क्षणमें हम रुपये इकट्ठे करते हैं,—मगर उनके हिस्सेमें कोरी बातें ही आती हैं, रुपया अन्तमें घूम-फिरकर हमारे ही दलके लोगोमें समा जाता है। कहनेका मतलब यह है कि देशके जिस अति क्षुद्र अशमें विद्या-बुद्धि और धन-मान केन्द्रीभूत है, उन फी-सदी पाँच आदमियोके साथ पचानवे आदमियोका व्यवधान महासमुद्रसे भी बढकर है। हम सब एक ही देशमे रहते है, फिर भी हमारा देश एक नहीं है।

बचपनमें अपने यहाँ मैंने एक तरहका चिराग जलते देखा था, जिसे बगालमें 'सेज' कहते हैं—उसके पात्रमे नीचे पानी और ऊपर तेल भरा रहता था। उसका उजेला कम होता था और धुआँ ज्यादा। हमारे पुराने जमानेकी लगभग यही दशा थी।

भद्र-साधारण और अभद्र-साधारणका सम्बन्ध ऐसा ही था। दोनोंका सम्मान समान नहीं, फिर भी दोनोंने एक साथ रहकर एक ही चिरागको जला रखा था। क्योंकि उनका एक ही अखड आधार था। परन्तु आज तेल एक तरफ चला गया है और पानी दूसरी तरफ। तेलकी ओर दिया जलनेके अन्य उपादान कम हैं, और पानीकी तरफ बिलकुल है ही नहीं।

जब उमर बढ़ी, तो घरमें आ गया विदेशसे मिट्टीके तेलका लैम्प, उसमें पूरा तेल भरा है और सारे तेलमें उद्दीपन-शक्ति मौजूद है। उसका उजेला भी तेज है। इसके साथ यूरोपीय सभ्य-समाजकी तुलना की जा सकती है। वहाँ एक ही जातिकी विद्या और शक्ति देशके समस्त लोगोंमें व्याप्त है। वहा ऊपरके खड और नीचेके खड हैं, ऊपरके खंडमें बत्ती तेज जला करती है और नीचेके खंडमें जलती ही नहीं। परन्तु वह भेद लगभग आकस्मिक है—सारे तेलमें दीप्ति-शक्ति मौजूद है। उस हिसाबमें ज्योतिका जाति-भेद नहीं है—नीचेका तेल यदि ऊपर उठे, तो उसके उजेलेमें कुछ तारतम्य नहीं होगा। वहाँ नीचेवालोंके लिए ऊपर चढ़ना असाध्य नहीं है—उसकी कोशिश हमेशा ही होती रहती है।

और एक तरहकी बत्ती है—वह कहलाती है बिजली-बत्ती। उसमें तारकी कुडलीसे प्रकाश नि[illegible] सब[illegible] प्रकाशवान हैं। उसमें दीप्त औ[illegible] प्रकाश लगभग

किन्तु कहीं-कहीं शुरू हो गया है,—इसके यत्रको पक्का बनानेमें शायद अब भी बहुत-कुछ बनाना-बिगाडना होगा, यत्रक महाजनोंमे कोई-कोई देवालिया भी हो जा सकते हैं,—परन्तु पश्चिम महादेशमें इधर लोगोंका काफी झुकाव हो रहा है, इस बातको अब छिपाया नहीं जा सकता। यह है प्रकाशका उद्यम, मनुष्यका अन्तरग धर्म, इस धर्म-साधनसे सभी मनुष्योंको अव्याहत अधिकार मिलेगा, ऐसा एक प्रयास अब क्रमश फैलता हो जाता है।

मगर आज, केवल हमार ही इस अभागे देशमें देखा जाता है कि एक दिन मिट्टीके दियेमें जो बत्ती जल रही थी, उसके लिए भी तेल नहीं जुटता—बाधाएँ आ रही हैं। आज हमार देशके डिग्री-धारी लोग जब देहातोंके विषयमें कुछ विचार करते भी है, तो उनके लिए बहुत ही हलके वजनकी कोई चीज देनेको काफी देना समझते हैं। जब तक हमारा ऐसा मनोभाव रहेगा, तब तक गाँवके लोग हमारे लिए विदेशी ही बने रहेंगे। यहाँ तक कि उनसे भी ज्यादा पराये हो जायगे। इसका कारण यह है कि हमे स्कूल-कालेजोंसे जितनी विद्या मिलती है, वह विद्या यूरोपीय है। उस विद्याकी सहायतासे यूरोपीयोंको समझना और यूरोपीयोंके सामने अपनेको समझाना हमारे लिए सहज हो गया है। इग्लैंड, फ्रान्स और जर्मनीकी मनोवृत्ति हमारे लिए सहज और प्रकट-सी है, उनके काव्य नाटक उपन्यास जो-कुछ हम पढते हैं, वे हमार लिए पहेली-से नहीं मालूम होते, यहाँ तक कि जो कामना और तपस्या उनकी है, लगभग वही कामना और वही तपस्या हमारी भी होती जा रही है। परन्तु

जो लोग सीतला माई, ओला माई, मनसादेवी, षष्ठीदेवी, कालीजी, भवानीजी, राहु-शनि, भूत-प्रेत, पोथी-पत्तरा और पंडा-पुरोहितोंकी छायामे पले हैं, उनसे हम बहुत ज्यादा ऊपर चढ़ गये हो, सो बात नहीं, किन्तु उनसे दूर जरूर हट गये है—इतनी दूर कि एक दूसरेकी आवाज तक नहीं सुन पाते। उनका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने योग्य कौतूहल भी हममे नहीं है।

हमारे कालेजोंमे जो इकॉनॉमिक्स या एथनॉलॉजी पढते है, अपने पासके गाँवके लोगोंका आचार-विचार जाननेके लिए वे यूरोपीय पंडितोंका मुह ताका करते हैं। अपने पडोसियोंको वे 'छोटे-आदमी' समझते है, हमारे हृदयमे मनुष्यके प्रति जो कुछ दर्द या सहानुभूति है, उसके द्वारा हमे वे दिखाई ही नहीं देते। पश्चिम महादेशके अनेक प्रकारके "मूवमेन्टो" का इतिहास इन्होंने पढा है,—किन्तु हमारे देशके जनसाधारणमें जो अनेक प्रकारके "मूवमेन्ट" (आन्दोलन) चल रहे हैं, हमारे शिक्षित-साधारणको उसकी कुछ खबर ही नहीं—जाननेके लिए किसी तरहकी उत्सुकता ही नहीं है, क्योकि उसके जाननेसे परीक्षामे मार्क नहीं मिलते। देशके साधारण-समाजमे कितने ही सम्प्रदाय हैं, वह हमारे लिए उपेक्षाकी चीज नहीं है, भद्र-समाजमे नये-नये धर्म-प्रयासोंकी अपेक्षा उनमे अनेक विषयोंमे गम्भीरता है—उन सम्प्रदायोंका जो साहित्य है, वह भी श्रद्धाके साथ रक्षा करने-योग्य है—मगर हम जो उन्हें 'छोटे आदमी' समझते है।

सभी देशोंमे नृत्य कला-विद्याके अन्तर्गत माना जाता है, और

वह भाव प्रकट करनेका उपाय होनेसे अच्छी दृष्टिसे देखा जाता है। हमारे देशमें भद्र-समाजसे उसका लोप हो गया है, इसलिए हमने समझ रखा है कि वह हमारी अपनी चीज नहीं है। किन्तु फिर भी सर्वसाधारणकी नृत्यकला अनेक रूपमें अब भी मौजूद है—मगर वे 'छोटे आदमी' ठहरे। अतएव उनमें जो कुछ है, वह हमारी चीज नहीं। यहाँ तक कि सुन्दर और सुनिपुण होनेपर भी वह हमारे लिए लज्जाका विषय ही बना रहेगा। धीरे-धीरे सम्भव है यह सब-कुछ लुप्त हो जाय—मगर फिर भी हम उसे देशकी स्मृतिमें नहीं गिनते—क्योंकि वास्तवमें वे हमारे देशमें नहीं हैं।

कविने कहा है—"देसहिमें परदेस भयौ अब" उन्होंने इसी खयालसे कहा है कि हम विदेशी शासनमें हैं। उससे भी सत्य और उससे भी गम्भीर-भावसे कहा जा सकता है कि अपने देशमें ही परदेशी हैं—अर्थात् हमारी जातिके अधिकांशोंका देश हमारा देश नहीं है। वह देश हमारे लिए अदृश्य है—अस्पृश्य है। जब देशको हम गला फाड़-फाड़कर माता कहकर पुकारते हैं, तब मुँहसे चाहे जो कुछ कहें, मन-ही-मन समझते हैं कि हमारी वह 'मा' कुछ लाडले लड़कोंकी ही मा है। क्या इसी तरह हम जिन्दा रह सकते हैं? सिर्फ वोटका अधिकार मिल जानेसे ही क्या हमें चरम मुक्ति मिल जायगी?

इसी दुःखसे, इसी वेदनासे देशवासियोंकी गहरी उदासीनताके बीचमें, सबकी अनुकूलतासे वंचित होते हुए भी, यहाँ, इन थोड़ेसे ग्रामोंमें हमने प्राण-संचारणके लिए यत्न करना शुरू कर दिया है।

जो लोग सीतला माई, ओला माई, मनमादेवी, पष्ठीदेवी, कालीजी, भवानीजी, राहु-शनि, भूत-प्रेत, पोथी-पत्तरा और पडा-पुरोहितोंकी छायामे पले हैं, उनसे हम बहुत ज्यादा ऊपर चढ गये हों, सो बात नहीं, किन्तु उनसे दूर जरूर हट गये है—इतनी दूर कि एक दूसरेकी आवाज तक नहीं सुन पाते। उनका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने योग्य कौतूहल भी हममे नहीं है।

हमारे कालेजोमे जो इकॉनॉमिक्स या एथनॉलॉजी पढते हैं, अपने पासके गाँवके लोगोका आचार-विचार जाननेके लिए वे यूरोपीय पंडितोका मुह ताका करते हैं। अपने पडोसियोंको वे 'छोटे-आदमी' समझते है, हमारे हृदयमें मनुष्यके प्रति जो कुछ दर्द या सहानुभूति है, उसके द्वारा हमें वे दिखाई ही नहीं देते। पश्चिम महादेशके अनेक प्रकारके "मूवमेन्टो" का इतिहास इन्होंने पढा है,—किन्तु हमारे देशके जनसाधारणमे जो अनेक प्रकारके "मूवमेन्ट" (आन्दोलन) चल रहे हैं, हमारे शिक्षित-साधारणको उसकी कुछ खबर ही नहीं—जाननेके लिए किसी तरहकी उत्सुकता ही नहीं है, क्योकि उसके जाननेसे परीक्षामे मार्क नहीं मिलते। देशके साधारण-समाजमे कितने ही सम्प्रदाय हैं, वह हमारे लिए उपेक्षाकी चीज नहीं है, भद्र-समाजमे नये-नये धर्म-प्रयासोकी अपेक्षा उनमे अनेक विषयोंमे गम्भीरता है— उन सम्प्रदायोका जो साहित्य है, वह भी श्रद्धाके साथ रक्षा करने योग्य है—मगर हम जो उन्हें 'छोटे आदमी' समझते हैं।

सभी देशोंमें नृत्य कला-विद्याके अन्तर्गत माना जाता है, और

वह भाव प्रकट करनेका उपाय होनेसे अच्छी दृष्टिसे देखा जाता है। हमारे देशमें भद्र-समाजसे उसका लोप हो गया है, इसलिए हमने समझ रखा है कि वह हमारी अपनी चीज नहीं है। किन्तु फिर भी सर्वसाधारणकी नृत्यकला अनेक रूपमें अब भी मौजूद है—मगर वे 'छोटे आदमी' ठहरे। अतएव उनमें जो कुछ है, वह हमारी चीज नहीं। यहाँ तक कि सुन्दर और सुनिपुण होनेपर भी वह हमारे लिए लज्जाका विषय ही बना रहेगा। धीरे-धीरे सम्भव है यह सब-कुछ लुप्त हो जाय—मगर फिर भी हम उसे देशकी स्मृतिमें नहीं गिनते—क्योंकि वास्तवमें वे हमारे देशमें नहीं हैं।

कविने कहा है—"देसहिमें परदेस भयौ अब " उन्होंने इसी खयालसे कहा है कि हम विदेशी शासनमें हैं। उससे भी सत्य और उससे भी गम्भीर-भावसे कहा जा सकता है कि अपने देशमें ही परदेशी हैं—अर्थात् हमारी जातिके अधिकांशोंका देश हमारा देश नहीं है। वह देश हमारे लिए अदृश्य है—अस्पृश्य है। जब देशको हम गला फाड-फाडकर माता कहकर पुकारते हैं, तब मुहसे चाहे जो कुछ कहें, मन-ही-मन समझते हैं कि हमारी वह 'मा' कुछ लाडले लडकोंकी ही मा है। क्या इसी तरह हम जिन्दा रह सकते हैं? सिर्फ वोटका अधिकार मिल जानेसे ही क्या हमें चरम मुक्ति मिल जायगी?

इसी दुःखसे, इसी वेदनासे देशवासियोंकी गहरी उदासीनताके बीचमें, सबकी अनुकूलतासे वंचित होते हुए भी, यहाँ, इन थोडेसे ग्रामोंमें हमने प्राण-सचारणके लिए यत्न करना शुरू कर दिया है।

जो लोग सीतला माई, ओला माई, मनसादेवी, षष्ठीदेवी, कालीजी, भवानीजी, राहु-शनि, भूत-प्रेत, पोथी-पत्तरा और पंडा-पुरोहितोंकी छायामे पले हैं, उनसे हम बहुत ज्यादा ऊपर चढ गये हों, सो बात नहीं, किन्तु उनसे दूर जरूर हट गये हैं—इतनी दूर कि एक दूसरेकी आवाज तक नहीं सुन पाते। उनका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने योग्य कौतूहल भी हममें नहीं है।

हमारे कालेजोंमे जो इकॉनॉमिक्स या एथनॉलॉजी पढते है, अपने पासके गॉवके लोगोका आचार-विचार जाननेके लिए वे यूरोपीय पंडितोंका मुह ताका करते है। अपने पडोसियोको वे 'छोटे-आदमी' समझते है, हमारे हृदयमे मनुष्यके प्रति जो कुछ दर्द या सहानुभूति है, उसके द्वारा हमे वे दिखाई ही नहीं देते। पश्चिम महादेशके अनेक प्रकारके "मूवमेन्टों" का इतिहास इन्होंने पढा है,—किन्तु हमारे देशके जनसाधारणमे जो अनेक प्रकारके "मूवमेन्ट" (आन्दोलन) चल रहे हैं, हमारे शिक्षित-साधारणको उसकी कुछ खबर ही नहीं—जाननेके लिए किसी तरहकी उत्सुकता ही नहीं है, क्योंकि उसके जाननेसे परीक्षामें मार्क नहीं मिलते। देशके साधारण-समाजमे कितने ही सम्प्रदाय हैं, वह हमारे लिए उपेक्षाकी चीज नहीं है, भद्र-समाजमे नये-नये धर्म-प्रयासोंकी अपेक्षा उनमें अनेक विषयोंमे गम्भीरता है—उन सम्प्रदायोंका जो साहित्य है, वह भी श्रद्धाके साथ रक्षा करने योग्य है—मगर हम जो उन्हें 'छोटे आदमी' समझते है।

सभी देशोंमें नृत्य कला-विद्याके अन्तर्गत माना जाता है, और

वह भाव प्रकट करनेका उपाय होनेसे अच्छी दृष्टिसे देखा जाता है। हमारे देशमें भद्र-समाजसे उसका लोप हो गया है, इसलिए हमने समझ रखा है कि वह हमारी अपनी चीज नहीं है। किन्तु फिर भी सर्वसाधारणकी नृत्यकला अनेक रूपमें अब भी मौजूद है—मगर वे 'छोटे आदमी' ठहरे। अतएव उनमें जो कुछ है, वह हमारी चीज नहीं। यहाँ तक कि सुन्दर और सुनिपुण होनेपर भी वह हमारे लिए लज्जाका विषय ही बना रहेगा। धीरे-धीरे सम्भव है यह सब-कुछ लुप्त हो जाय—मगर फिर भी हम उसे देशकी स्मृतिमें नहीं गिनते—क्योंकि वास्तवमें वे हमारे देशमें नहीं हैं।

कविने कहा है—"देसहिमें परदेस भयौ अब " उन्होंने इसी खयालसे कहा है कि हम विदेशी शासनमें हैं। उससे भी सत्य और उससे भी गम्भीर-भावसे कहा जा सकता है कि अपने देशमें ही परदेशी हैं—अर्थात् हमारी जातिके अधिकाशोंका देश हमारा देश नहीं है। वह देश हमारे लिए अदृश्य है—अस्पृश्य है। जब देशको हम गला फाड-फाडकर माता कहकर पुकारते हैं, तब मुँहसे चाहे जो कुछ कहें, मन ही-मन समझते हैं कि हमारी वह 'मा' कुछ लाडले लडकोंकी ही मा है। क्या इसी तरह हम जिन्दा रह सकते हैं ? सिर्फ वोटका अधिकार मिल जानेसे ही क्या हमे चरम मुक्ति मिल जायगी ?

इसी दु खसे, इसी वेदनासे देशवासियोंकी गहरी उदासीनताके बीचमें, सबकी अनुकूलतासे वञ्चित होते हुए भी, यहाँ, इन थोडेसे ग्रामोंमें हमने प्राण-सञ्चारणके लिए यज्ञ करना शुरू कर दिया है।

शासनका सम्बन्ध जोडता, यानी वह वैश्यराज न बनकर क्षत्रियराज बनता, तो तुम्हें किसी तरहका पश्चात्ताप न रहता ?"

—"आर्थिक सम्बन्धके जरिये विशाल जापानकी सहस्रमुखी भूख हम लोगोंको चूसे जा रही है, इससे तो राज-शासनका बोझ हलका था, वह सम्बन्ध व्यक्तिगत है, सीमाबद्ध है। राजाकी इच्छा यदि केवल शासनकी ही इच्छा हो, शोषणकी इच्छा न हो, तो उसे मानते हुए भी मामूली तौरसे सारा देश अपनी स्वाधीनता और आत्म-सम्मानकी रक्षा कर सकता है। परन्तु धनिकोंके शासनसे हमारा समग्र देश दूसरे एक समग्र देशकी चीजोंका बाजार बन जाता है। हम लोभकी वस्तु बन गये है, उसमे न तो आत्मीयता है और न गौरव ही !"

—"ये जो बातें तुम सोच रहे हो और कह रहे हो, यह जो समष्टिगत भावसे जातीय आत्म-सम्मानके लिए तुम्हारा आग्रह है, क्या उसका कारण यह नहीं है कि जापानके प्रतिष्ठित विद्यालयमे तुम आधुनिक युगकी राष्ट्रीय शिक्षासे दीक्षित हुए हो ?"

युवक दुविधामे पडकर चुप रहा। मैंने कहा—"मुँह उठाकर देखो, सामने वह चीन देश दिखाई दे रहा है। वहाँ जातीय आत्म-सम्मानका ज्ञान शिक्षाके अभावसे देशके जनसाधारणमे सोया पडा है। इसीसे वहाँ व्यक्तिगत क्षमता-प्राप्तिकी दुराशासे कुछ लोभी मनुष्योंमे मार-काट चल रही है। सिर्फ इसी वजहसे देशमें लूट-मार और अत्याचार हो रहे हैं—अभागा देश आज डकैतो और सैनिकोंके हाथमें पडकर नेस्तनाबूद हो रहा है, देशमे आज खूनकी नदियाँ बह

रही है, प्रजा आज असहाय होकर रात-दिन आतंकित बनी रहती है। शिक्षाके जोरसे जहाँ साधारण जनतामें स्वाधिकारका ज्ञान स्पष्ट नहीं हुआ, वहाँ स्वदेशी या विदेशी दुराकांक्षियों के द्वारा उनपर किये गये अत्याचारों को कौन रोक सकता है? उस दशामें वे क्षमतालोलुपों के स्वार्थ-साधनके उपकरणमात्र बने रहते हैं। तुमने अपने देशको धनियोंके स्वार्थकी वस्तु बताकर पश्चात्ताप किया था, किन्तु जो मूढ़ हैं, जो कापुरुष हैं, जो भाग्यपर भरोसा रखकर उसीके मुहकी ओर ताकते रहते हैं, जो आत्म-कर्तृत्वपर विश्वास नहीं रखते, उनकी वह उपकरण-दशा कभी दूर हो ही नहीं सकती। कोरियाकी अवस्था मुझे नहीं मालूम, परन्तु यदि वहाँ नवयुगकी शिक्षाके प्रभावसे साधारण जनतामें स्वाधिकार-ज्ञानका अंकुर भी उगा हो, तो वह शिक्षा क्या उन्हें जापानसे ही नहीं मिली?"

—"किससे मिली, किससे नहीं—इससे क्या आता-जाता है? शत्रु हो, चाहे मित्र—कोई भी चाहे किसी उपायसे हमें क्यों न जगावे, जागरणका जो धर्म है, वह तो अपना काम करेगा ही।"

—"इस बातको मैं मानता हूँ, मेरा यह तर्क ही नहीं है। विचारनेका विषय तो यह है कि तुम्हारे देशमें शिक्षा-प्रचार इतना हुआ है या नहीं, जिससे देशके अधिकांश लोग स्वाधिकारकी उपलब्धि और यथार्थ रूपमें उसका दावा कर सकें? अगर इतना न हुआ हो, तो वहाँ विदेशियोंके दूर हो जानपर भी सर्वसाधारणके द्वारा आत्म-शासन नहीं हो सकता,—हो सकता है कुछ खास आदमियों के उपद्रवसे आत्म-विप्लव। इन थोड़ेसे आदमियों के

व्यक्तिगत स्वार्थ-बोधको संयत करनेका एकमात्र उपाय है बहुत आदमियोंका समष्टिगत स्वार्थ-बोधका उद्बोधन।"

—"जितनी और जिस ढंगकी शिक्षासे विशाल रूपसे समग्र देश चेत सकता है, उसे हम सम्पूर्ण रूपसे दूसरोंसे पानेकी आशा कैसे कर सकते हैं?"

—"तुम्हारे जैसे शिक्षित पुरुषों को ही यदि देशमें वैसी शिक्षाका अभाव मालूम होता है, तो उस शिक्षा-प्रचारके साधनको ही सबसे पहला और सबसे मुख्य कर्तव्य समझकर उसे स्वयं अपने हाथमें क्यों नहीं ले लेते? देशको मरनेसे बचानेके लिए केवल भावुकतासे ही काम नहीं चल सकता, उसके लिए ज्ञानकी बहुत बडी आवश्यकता है। मेरे मनमें और-भी एक विचारणीय विषय है। भौगोलिक, ऐतिहासिक या जातीय प्रकृतिगत कारणो से कोरिया बहुत दिनो से कमज़ोर है। आज जब कि युद्ध करना वैज्ञानिक साधन-साध्य और बहुव्यय-साध्य हो गया है, तो क्या तुम जापानसे अपनी शक्तिसे अलग होकर अपनी ही शक्तिसे अपनी रक्षा कर सकते हो? ठीक-ठीक बताओ?"

—"नहीं कर सकते, यह तो मानना ही पडेगा।"

—"यदि नहीं कर सकते, तो इस बातको भी मानना होगा कि कमज़ोर सिर्फ अपने लिए ही अपने आप विपत्ति नहीं लाता, बल्कि औरो के लिए भी बुला लाता है। दुर्बलताके कुएँपर प्रबल दुराकाक्षा आप ही दूरसे आकृष्ट होकर मडराती रहती है। सवार सिंहकी पीठपर नहीं चढ सकता, घोडेको ही लगामसे बाँध सकता है।



पायोनियर्स कम्यूनमें रवीन्द्रनाथ

मान लो, रूस यदि कोरियामें झडा गाड दे, तो वह सिर्फ कोरियाके लिए ही नहीं, जापानके लिए भी विपत्ति है। ऐसी दशामें दूसरे प्रबलको रोकनेके लिए कोरियामें जापानको अपनी ही शक्ति बढानी पडेगी। और उस दशामें यह सम्भव नहीं कि किसी दिन जापान बिना पराजयके ही कोरियाके कमज़ोर हाथोंमें कोरियाका भाग्य सौंप देगा। इसमें जापानको सिर्फ मुनाफेका ही लोभ नहीं है, बल्कि जानका भी खयाल है।"

—"आपका प्रश्न यही है न, कि तब कोरिया क्या करेगा? मैं जानता हू, कि आधुनिक युद्धके योग्य सेना हम नहीं तैयार कर सकते। उसके बाद युद्धके लिए जहाज, हवाई-जहाज और पनडुब्बे तैयार करना, उनका परिचालन करना हमारी कल्पनाके भी बाहरकी बात है, और विदेशी शासनके अधीन रहकर असम्भव है, किन्तु फिर भी हम यह तो हरगिज़ नहीं कह सकते कि हाथ-पैर चलाना बद करके डूब जाना ही अच्छा है।"

—"यह कहना अच्छा भी नहीं है। हाथ-पैर चलाना बंद नहीं कर सकते, परन्तु किस तरफ जानेसे किनारा मिलेगा, इस बातको अगर न सोचें और बुद्धिसंगत कोई जवाब न दें, तो मुँहसे चाहे जितना ही क्यो न चिल्लावें, भाषान्तरमें उसे 'हाथ-पैर चलाना बंद' ही कहा जायगा।"

—"मैं क्या सोचता हू, सो कहता हू। ऐसा एक समय आनेवाला है, जब ससारमें जापानी, चीनी, रूसी, कोरीय आदि अनेक जातियो में आर्थिक स्वार्थगत राष्ट्रीय प्रतियोगिता ही सबसे

मुल्य ऐतिहासिक घटना नहीं समझी जायगी। क्यों नहीं समझी जायगी, इसका कारण बताता हू। जिस देशके मनुष्योंको हम स्वाधीन कहा करते हैं, उनके भी ऐश्वर्य और प्रतापके क्षेत्रमें दो विभाग हैं। एक विभागके कुछ थोडेसे आदमी ऐश्वर्यका भोग करते हैं, और दूसरे विभागके असंख्य अभागे उस ऐश्वर्यका भार ढोते हैं। एक विभागके दो-चार आदमी प्रताप-यज्ञकी अग्निशिखा अपनी इच्छासे उद्दीपित करते हैं, और दूसरे विभागके अनेकानेक लोग इच्छा न होते हुए भी अपने हाड़-मांससे उस प्रताप-यज्ञमे इन्धन जुटाते हैं। सारे ससारमें युग-युगमे मनुष्योंके भीतर ऐसे मूलगत विभाग रहे हैं—एक ऊपर, दूसरा नीचे। इतने दिनों तक नीचेके विभागके लोग अपनी निचाईको बराबर मानते आये हैं, इस बातको वे सोच ही नहीं सके कि यह अवश्य स्वीकार्य नहीं है, इससे इनकार भी किया जा सकता है।"

मैंने कहा—"सोचना शुरू कर दिया है, क्योंकि ससारमे जो युगान्तकारी द्वन्द्व शुरू हुआ है, वह भिन्न-भिन्न महाजातियोंमें ही नहीं, बल्कि मनुष्यके दो ही विभागो मे है—शासनकर्ता और शासितमे। शोषणकर्ता स्वार्थी और शुष्क होता है। इस विषयमें कोरिया और जापान, प्राच्य और पाश्चात्य—सब एक ही पंक्तिमें हैं। हमारे कष्ट और हमारी दीनता ही हमारी महाशक्ति है। उसीने संसार-भरमें हमारा सम्मिलन कराया है, और उसीके बलपर भविष्यपर हमारा अधिकार होगा। किन्तु जो धनिक हैं,

वे किसी भी तरह एक नहीं हो सकते—स्वार्थकी दुर्लंघ्य प्राचीरसे वे अलग-अलग घिरे हुए हैं। हमारे लिए बड़े आश्वासनकी बात यह है कि जो सत्य रूपमे मिल सकते हैं, उन्हींकी जय होती है। यूरोपमे जो महायुद्ध हुआ था, वह धनिकोंका युद्ध था। उस युद्धका बीज आज असंख्य होकर ससार-भरमे फैल गया है। वह बीज मानव-प्रकृतिके अंदर ही है,—स्वार्थ ही विद्वेष-बुद्धिकी जन्मभूमि है। अब तक दुःखी ही दीनता और अज्ञानतासे परस्पर एक दूसरेसे अलग थे, और धनमे जो शक्तिशूल था, वह उनके मर्मस्थलमें घुसा हुआ था। आज दुःख और दीनता ही हमें मिलायेगी, और धन ही धनियो को विच्छिन्न करायेगा। संसारमें आज राष्ट्रतन्त्रकी जो अशान्त लहरें उठ रही हैं, बलवान जातियोंमे जो दुराकांक्षाएँ बढ रही हैं, इससे क्या हमे यही नहीं दीख रहा ?"

इसके बाद फिर हमे बातचीत करनेका अवकाश नहीं मिला। मैं मन-ही-मन सोचने लगा—यह बात सच है कि असयत शक्तिका लोभ अपने ही अदर विष उत्पन्न करके अपने आपको मारता है, परन्तु समर्थ और असमर्थका भेद आज जो एक विशेष रूप धारण करके प्रकट हो रहा है, उसे रक्तपात करके नष्ट कर डालनेसे क्या मानव-प्रकृतिसे भेदकी जड नष्ट हो जायगी ? ऐसा सुना गया है कि पृथिवीकी समस्त उच्चभूमि तूफानकी झाडूसे साफ होकर घिसते-घिसते एक दिन समुद्रमें मिल जायगी, किन्तु क्या उसी दिन पृथिवीके मरनेका समय नहीं आयेगा ? समत्व और पचत्व क्या एक ही वस्तु नहीं है ? भेदको नष्ट करके मानव-समाजके सत्यको

नष्ट किया जाता है। भेदके अदर कल्याणकर सम्बन्ध स्थापित करना ही उसकी नित्य साधना है, और भेदके भीतरके अन्यायके साथ ही उसका नित्य संग्राम है। इस साधनासे, इस संग्रामसे ही मनुष्य बडा होता है। यूरोप आज जब कि साधनाको छोडकर संग्रामको ही एकान्त वस्तु बनाना चाहता है, तो उसकी चेष्टा होगी समर्थको विनाश करके असमर्थको साम्य देना। यदि यह अभिलाषा सफल हुई, तो जिस हिंसाकी सहायतासे वह सफल होगी, उस रक्त-बीजको ही जयडका बजा कर उस सफलताके कंधेपर चढा देगी। फिर केवल रक्तपातका चक्रावर्तन ही रह जायगा। शान्तिकी दुहाई देकर ये लोग युद्ध किया करते हैं और उस युद्धके धक्केसे ही उस शान्तिको मारते हैं—आजकी शक्तिके विरुद्ध युद्ध करके कलकी जिस शक्तिको जगाते हैं, फिर दूसरे ही दिनसे उसी शक्तिके विरुद्ध युद्धको तैयारी शुरू कर देते हैं। आखिर चरमशान्ति क्या विश्वव्यापी श्मशानक्षेत्रमें है ?

कोरियाके युवकके साथ मेरी जो बातचीत हुई थी, उसका भाव मात्र यहाँ लिखा गया है। यह हूबहू उसकी प्रतिलिपि नहीं है।

---